श्रीः ।

भाषाटीकासमेत ।

विदुरनीति-यक्षप्रश्न.

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,

मालिक-" लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर " प्रेस,

कल्याण-बंबई.

॥ श्रीः ॥

विदुरनीति.

पं० काशीरामकृत भाषाटीका सहिता.

यक्ष-धर्मप्रश्नोत्तरी ।

पं० नन्दलालकृत

भाषाटीकासमेता ।



गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,

मालिक-"लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस,

कल्याण-मुंबई.

संवत् १९८९, शके १८५०,



मुद्रक और प्रकाशक-

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,

मालिक-"लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस, कल्याण-मुंबई.



प्रस्तावना ।



श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवद्वाक्य है कि " नीतिरस्मि जिगीषताम् " संसारमें जीत चाहनेवालोंके लिये मैं ' नीति ' हूँ । इसका स्पष्टार्थ हुआ कि, नीति जाननेवालेका सदा जय होता है, इसलिये संसारमें प्रत्येक मनुष्यको नीतिशास्त्रका अभ्यास कर उसके अनुसार चलना चाहिये, जिस महाभारत रत्नाकरसे श्रीभगवद्गीता, विष्णुसहस्रनाम, गजेन्द्रमोक्षण आदि अनेक रत्न निकले हैं उसीसे यह **'विदुरनीति'** भी निकली है । राजा धृतराष्ट्र धर्मसे च्युत न हों, नीतिके अनुसार चलनेसे इस लोकमें सुख सम्पत्ति आदि अनेक लाभ तथा परलोकमें अक्षय सुख उनको मिले इसलिये महात्मा विदुरने उनको उपदेश दिया था । वह उपदेश राजा महाराजा विद्वान् इत्यादि सकल साधारणको उपयोगी होनेसे जगत्प्रिय होगया । इसीसे इसका संसारमें अधिक प्रचार हो, संस्कृतप्रेमियोंके अतिरिक्त हिन्दी-रसिक भी इससे लाभ उठासकें इस आशयसे हमने ढाढौलीनिवासी पण्डित शिवरामजीसे इसकी भाषाटीका बनवाई है इससे संस्कृतकी कठिनता सब जातीरही । साथ ही इसके यक्ष और धर्मराज युधि-

ष्टिके प्रश्नोत्तर युक्तकर मुहम्मदपुरमाजरानिवासी पंडित नन्दलाल-जीसे उसकी सरल भाषाटीका बनवाकर युक्त करदी है । आशा है कि इस पुस्तकको लोग अपने बालकोंको कण्ठ करादेंगे जिससे सदा नीतिके श्लोक उपस्थित रहनेसे उनको अपना कर्तव्य आयुष्यभर याद रहे और उसके अनुसार चलकर वह प्रत्येक कार्यमें लाभ उठावें ।

सज्जनोंका—हितैषी,

खेमराज–श्रीकृष्णदास.



॥ श्रीः ॥

विदुरनीतिः ।

भाषाटीकासमेता

अतः परं प्रजागरपर्व.

वैशंपायन उवाच ।

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम् ॥ १ ॥

भजे सत्यं गुणातीतमनन्तं सदसदात्मकम् ।
यद्विज्ञापितो द्रुहिणो निगममाविरकार्षीत् ॥
अहो विनिर्ममे मन्दो भाषां विदुरनीतिके ।
कृपा श्रीवासुदेवस्य भक्तैः किंकिं न साधयेत् ॥

वैशम्पायनजी महाराज राजा जनमेजयसे कहतेहुए कि, हे महाराज ! जब कि संजय आज्ञा पाय चलेगये तब पृथ्वीपति अतिबुद्धिमान् धृतराष्ट्रजी द्वारपालसे बोले कि, हे द्वारपाल ! मैं विदुरजीको इस समय देखना चाहताहूँ उनको यहां शीघ्र ही लाइये ॥ १ ॥

प्राहितो धृतराष्ट्रेण दूतः क्षत्तारमब्रवीत् ।
ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ दिदृक्षति ॥ २ ॥
एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम् ।
अब्रवीद्धृतराष्ट्राय द्वाःस्थं मां प्रति वेदय ॥ ३ ॥

द्वाःस्थ उवाच ।

विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र तव शासनात् ।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम् ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

प्रवेशय महाप्रज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
अहं हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शने ॥ ५ ॥

उस समय धृतराष्ट्रजीका भेजाहुआ यह दूत विदुरजीसे कहनेलगा, हे महाप्राज्ञ ! राजा धृतराष्ट्रजी महाराज इस समय तुमको देखना चाहतेहैं ॥२॥ तब इस प्रकार कहेहुए विदुरजी राजमन्दिरको प्राप्त होकर द्वारपालसे कहने लगे, हे द्वारपाल ! आयेहुए मुझको धृतराष्ट्रजीके लिये जतादे॥३॥ उस समय द्वारपाल जाकर धृतराष्ट्रसे कहनेलगा, हे राजेन्द्र ! तुम्हारी आज्ञासे यह विदुरजी प्राप्त हुएहैं वह तुम्हारे चरणोंको देखना चाहतेहैं वह क्या करें वैसी मुझको आज्ञा करिये ॥ ४ ॥ तब धृतराष्ट्रजी बोले

द्वाःस्थ उवाच ।

प्रविशान्तःपुरं क्षत्तर्महाराजस्य धीमतः ।
नहि ते दर्शनेऽकल्पो जातु राजाऽब्रवीद्धि माम् ॥ ६ ॥

वैशंपायन उवाच ।

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
अब्रवीत्प्रांजलिर्वाक्यं चिंतयानं नराधिपम् ॥ ७ ॥
विदुरोऽहं महाप्राज्ञ संप्राप्तस्तव शासनात् ।
यदि किंचन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम् ॥ ८ ॥

हे द्वारपाल ! दीर्घदर्शी बडे बुद्धिमान् विदुरजीका यहां प्रवेश कीजिये क्योंकि मैं इन विदुरजीके दर्शनमें कदाचित् भी असमर्थ नहीं हूँ अर्थात् इन विदुरजीका दर्शन सब कालमें करसकता हूँ ॥ ५ ॥ उस समय धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाय विदुरजीसे द्वारपाल कहताहुआ । हे क्षत्तः अर्थात् हे शूद्राके विषे क्षत्रियसे उत्पन्नहुए वीर श्रेष्ठबुद्धिवाले! महाराज ! धृतराष्ट्रके अन्तःपुरको प्रवेश कीजिये तुम्हारे दर्शनमें राजा कदाचित् भी असमर्थ नहीं हैं क्योंकि ऐसा वह मुझसे कहते हुए ॥६॥ वैशंपायनजी बोले तदनन्तर धृतराष्ट्रके मंदिरको प्रवेश कर हाथ जोडेहुये विदुरजी चिंतवन करतेहुए नृपति धृतराष्ट्रसे वाक्य बोले॥७॥ हे महाप्राज्ञ ! मैं विदुर हों तुम्हरी आज्ञासे यहां प्राप्त हुआहूं

धृतराष्ट्र उवाच ।

संजयो विदुर प्राप्तो गर्हयित्वा च मां गतः ।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ॥ ९ ॥
तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया ।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत्प्रजागरम् ॥ १० ॥
जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि ।
तद्ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ ११ ॥

यतः प्राप्तः संजयः पाण्डवेभ्यो
न मे यथावन्मनसः प्रशांतिः ।

यदि जो कुछ करनेयोग्य है उसको मुझसे आज्ञा करिये मैं तुम्हारे प्रत्यक्ष यहां विद्यमान हूँ ॥ ८ ॥ उस समय धृतराष्ट्रजी विदुरजीसे कहते हुए । हे विदुरजी ! बुद्धिमान् संजय यहां आया और हमारी निन्दा करके इस समय यहांसे गया है । कल्ह अजातशत्रुयुधिष्ठिरके वाक्यको वह सभाके बीचमें कहेगा ॥ ९ ॥ इस समय उस कुरुवीर संजयका वाक्य मैंने विशेषकर नहीं जाना है वह वचन मेरे गात्रोंको जलारहा है और वह ही वचन प्रजागर अर्थात् अनिद्राको करता-हुआ ॥ १० ॥ हे तात ! जागनेवाले मुझ जलतेहुएका जो कल्याण तुम देखते हो वह मुझसे कहिये क्योंकि तुम धर्म अर्थके विषे निपुण हो ॥ ११ ॥ पांडवोंसे विदा होकर जबसे कि संजय यहां

सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि
किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिंता ॥ १२ ॥

विदुर उवाच ।

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम् ।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः ॥ १३ ॥
कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप ।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन्न परितप्यसे ॥ १४ ॥

प्राप्त हुआहै तबसे लेकर हमारे मनको यथोचित शान्ति नहीं हुईहै और मेरे समस्त इन्द्रियगण अप्रकृति अर्थात् असावधानताको प्राप्त होगये हैं न जाने वह संजय क्या कहैगा यही मुझको इस समय अतिभारी चिन्ता है ॥ १२ ॥ तब विदुरजी राजा धृतराष्ट्रसे कहनेलगे कि, जिसका साधन हीन हो गया है ऐसा दुर्बल बलवान्कर वादविवादको प्राप्त कियागया हो और जिसका धन किसीने छीनलिया हो और जो कामी हो और चोरी करता हो इनको अनिद्रा प्रवेश होवैहै अर्थात् इनको नींद नहीं आवै है ॥ १३ ॥ क्या हे नराधिप ! इन महा दोषोंने तौ तुम नहीं स्पर्श करलियेहौ ? अथवा क्या दूसरोंके धनोंमें कांक्षावालेहुए तौ नहीं संतप्त होरहेहौ ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः ।
अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसंमतः ॥ १९ ॥

विदुर उवाच ।

"राजा लक्षणसंपन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत् ।
प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
विपरीततरश्च त्वं भागधेयेन संमतः ।
अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः ॥ २ ॥
आनृशंस्यादनुक्रोशाद्धर्मात्सत्यात्पराक्रमात् ।
गुरुत्वात्त्वयि संप्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते ॥ ३ ॥

तब धृतराष्ट्रजी महाराज विदुरजीसे बोले हे विदुरजी ! तुम्हारे कल्याण-कारक उत्तमधर्मयुक्त वचनोंको मैं सुनना चाहताहूँ । कारण कि, तुम अकेले ही इस राजर्षिवंशके विषै पंडितोंके मान्य हौ ॥ १९ ॥ " उस समय विदुरजी महाराज धृतराष्ट्रसे कहनेलगे हे राजन् धृतराष्ट्र ! लक्षणयुक्त क्षत्रिय तीनों लोकोंका स्वामी होताहै सो प्रार्थना करने योग्य युधिष्ठरजी तुमने वनको भेजदिये ॥ १ ॥ और तुम धर्मात्मा तथा धर्मके जाननेवाले भी हौ तथापि नेत्रदृष्टिके दूर होनेसे विपरीततर अर्थात् राज्यलक्षणहीन हौ इसीकारण राज्यांशके विषै तुम योग्य नहीं ॥२॥ युधिष्ठिरजी महाराज अक्रूरता, दया, धर्म, सत्य पराक्रमके कारण

दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा ।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ ४ ॥
आत्मज्ञानं समारंभस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्थान्नापकर्षंति स वै पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥"
निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत्पण्डितलक्षणम् ॥ १६ ॥
क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीस्तंभो मान्यमानिता ।
यमर्थान्नापकर्षंति स वै पंडित उच्यते ॥ १७ ॥

तथा तुम्हारे विषै गुरुभावके कारणसे जानकरके बहुतसे क्लेशोंको सहरहे है ॥ ३ ॥ दुर्योधन, सौबल, कर्ण और दुःशासन इनके विषै राज्यैश्वर्यको रखकर अर्थात् इनके अधीन होकर कैसे ऐश्वर्यकी तुम इच्छा करतेहो ॥ ४ ॥ आत्मज्ञान और समारम्भ और तितिक्षा और धर्मनित्यता यह जिसको पुरुषार्थसे नहीं खींचते हैं वह निश्चय ही पंडित कहाहै ॥५॥" जो कि श्रेष्ठ कर्मोंको सेवन करताहै और निन्दित कर्मोंको नहीं सेवन करता है नास्तिक भी नहीहै और श्रद्धावान् है यह ही पंडितका लक्षण है ॥ १६ ॥ क्रोध और अहर्ष अर्थात् शोक और ह्रीस्तम्भ अर्थात् निर्लज्जता और आत्माको मान योग्य मानना

यस्य कृत्यं न जानंति मंत्रं वा मंत्रितं परे ।
कृतमेवास्य जानंति स वै पंडित उच्यते ॥ १८ ॥
यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पंडित उच्यते ॥ १९ ॥
यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते ।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पंडित उच्यते ॥ २० ॥
यथाशक्ति चिकीर्षंति यथाशक्ति च कुर्वते ।
न किंचिदवमन्यंते नराः पंडितबुद्धयः ॥ २१ ॥

यह जिसके अर्थसे नहीं खींचते हैं वह पंडित कहाहै ॥ १७ ॥ जिसके नहीं कियेहुए कार्यको और सलाह कियेहुए मंत्रको दूसरे जन नहीं जानते हैं किन्तु जिसके कियेहुए ही कार्यको जानते हैं वह निश्चय ही पंडित कहाहै ॥ १८ ॥ जिसके कार्यको शीत, उष्ण, भय, मैथुन समृद्धि और असमृद्धि अर्थात् दरिद्रावस्था यह नहीं विघ्न करतेहैं वह निश्चय ही पंडित कहाहै ॥ १९ ॥ जिसकी बुद्धि संसार-वर्त्तिनी हुई भी धर्म और अर्थको साधन करती है और जो कामसे अर्थको श्रेष्ठ मानताहै वह निश्चय ही पंडित कहाहै ॥ २० ॥ जिनकी कि पंडितोंके समान बुद्धि है वह नर शक्तिके अनुसार ही कार्य कर-नेकी इच्छा करते हैं और शक्तिके अनुसार ही कार्यको करते हैं और

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासंपृष्टो व्युपयुंक्ते परार्थे
तत्प्रज्ञानं प्रथमं पंडितस्य ॥ २२ ॥
नाप्राप्यमभिवाञ्छंति नष्टं नेच्छंति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यंति नराः पंडितबुद्धयः ॥ २३ ॥
निश्चित्य यः प्रक्रमते नांतर्वसति कर्मणः ।
अवंध्यकालो वश्यात्मा स वै पंडित उच्यते ॥ २४ ॥

न किसीको किंचिन्मात्र अवमान करते हैं ॥ २१ ॥ जो कि ज्ञानकी दृढताके लिये किसी वाक्यको बहुतकालतक सुनता है फिर सुनकर शीघ्र ही जानलेताहै फिर जानकरके अर्थको सेवन करताहै न कि इच्छासे और नहीं यथावत् पूछा हुआ जो दूसरेके अर्थ न कुछ कहताहै सो यह पंडितका प्रथम चिह्न है ॥ २२ ॥ जिनकी पंडितोंके समान बुद्धि है वह नर अप्राप्य पदार्थकी नहीं अभिलाषा करते हैं और नष्टहुए वस्तुके शोच करनेको नहीं इच्छा करतेहैं और आपदाओंके विषै नहीं मोहित होतेहैं ॥ २३ ॥ जो कि निश्चय करके कार्यको करता है और कार्यके मध्यमें नहीं निवृत्त होताहै अर्थात् विना समाप्त हुए कार्यको नहीं छोडताहै और जिसका समय

आर्यकर्मणि रज्यंते भूतिकर्माणि कुर्वते ।
हितं च नाभ्यसूयंति पंडिता भरतर्षभ ॥ २५ ॥
न हृष्यत्यात्मसंमाने नावमाने न तप्यते ।
गाङ्गो हृद इवाक्षोभ्यो यः स पंडित उच्यते ॥ २६ ॥
तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पंडित उच्यते ॥ २७ ॥
प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशुग्रंथस्य वक्ता च यः स पंडित उच्यते ॥ २८ ॥

निष्फल नहीं जाताहै और जो वश्यात्मा अर्थात् जितेन्द्रिय रहताहै वह निश्चय ही पंडित कहाहै ॥ २४ ॥ हे भरतर्षभ ! पंडितजन शिष्ट-जनोंके योग्य कर्मके विषय अनुरक्त रहतेहैं और ऐश्वर्यके कर्म करते हैं और हित करनेवालेकी निन्दा नहीं करते हैं ॥ २५ ॥ जोकि अपने समान होनेमें नहीं हर्षित होताहै और अवमानकर नहीं संतप्त होताहै किन्तु गङ्गाजीके हृदके समान सन्मान तथा अवमानका कारण होने-पर भी किसी प्रकार नहीं चलायमान होताहै वह पंडित कहाहै ॥ २६ ॥ सर्व प्राणियोंके तत्त्वको जाननेवाला और सर्व कर्मोंके योग नाम रचना प्रकारको जाननेवाला और मनुष्योंके मध्यमें उपा-यको जाननेवाला नर पंडित कहाहै ॥ २७ ॥ प्रवृत्तवाक् अर्थात्

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असंभिन्नार्यमर्यादः पंडिताख्यां लभेत सः ॥ २९ ॥
अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ ३० ॥
स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्याचरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥ ३१ ॥

जिसकी वाणी कहनेमें अकुण्ठित हो और जो चित्रविचित्र कथाओंके कहनेवाला हो और जो तर्कवाला हो और जो प्रतिभानवान् अर्थात् तत्काल ही स्फूर्तिवाला हो यानी जिसको तत्काल ही पूर्ववृत्तकी स्मृति होजावै और जो शीघ्रही शास्त्रके अर्थका कहनेवाला हो वह पंडित कहाहै ॥ २८ ॥ जिसका शास्त्र बुद्धिके अनुकूल हो और जिसकी बुद्धि शास्त्रके अनुसार हो और जिसने शिष्टजनोंकी मर्यादा नहीं दूर की हो वह पंडित नामको प्राप्त होताहै ॥ २९ ॥ और जो कि शास्त्रहीन होकर सर्व कार्योंके करनेमें गर्विष्ठ है और दरिद्र होकर उदारचित्तवाला है और विना कर्मकर अर्थोंके प्राप्त करनेकी इच्छा करताहै वह पंडितोंने मूर्ख कहाहै ॥ ३० ॥ जो अपने अर्थको त्याग-कर दूसरेके अर्थको सेवन करता है और मित्रके अर्थ मिथ्या आच-

अकामान्कामयति यः कामयानान्परित्यजेत् ।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३२ ॥
अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३३ ॥
संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥ ३४ ॥
श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३५ ॥

—रण करताहै वह भी मूढ कहाहै ॥ ३१ ॥ जो कि नहीं चाहनेवालोंको चाहताहै और अपने चाह वालोंको त्याग देताहै और बलवान्से द्वेष करताहै उसको पंडितजन मूढचेता कहतेहैं ॥ ३२ ॥ जो अमित्रको मित्र करताहै और मित्रसे वैर करताहै अथवा मित्रकी हिंसा करताहै और दुष्टकर्मको आरम्भ करताहै उसको पंडित मूढचेता कहते हैं ॥ ३३ ॥ हे भरतर्षभ ! जो कि कार्योंको व्यर्थ ही विस्तार करताहै और सब जगह संशय करताहै और शीघ्र होनेवाले कार्यमें विलम्ब करताहै वह मूढ है ॥ ३४ ॥ जो कि पित्रोंके अर्थ श्राद्ध नहीं अर्पण करताहै और देवताओंको नहीं पूजता है और सदैव सहायता करनेवाले मित्रको नहीं प्राप्त होताहै उसको पंडित मूढचेता कहते हैं ॥ ३५ ॥

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ ३६ ॥
परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥ ३७ ॥
आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ॥ ३८ ॥
अशिष्यं शास्ति यो राजन्यश्च शून्यमुपासते ।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३९ ॥

जो कि विनाही बुलाया सभामें प्रवेश करताहै और विना ही पूछा हुआ बहुभाषण करताहै और अविश्वासीमें विश्वास करताहै वह अधम नर मूढचेता है ॥ ३६ ॥ जो कि स्वयं दोषसे वर्त्तमान होकर भी दूसरेको दोषयुक्त करताहै और जो आप असमर्थ होकर समर्थके विषे क्रोध करताहै वह नर अतिमूढ है ॥ ३७ ॥ अपने बलको न जानकर धर्म अर्थकर वर्जित अलभ्यवस्तुको विना कर्मकर प्राप्त करना चाहताहै वह इस लोकमें पंडितोंने मूढ बुद्धि कहाहै॥ ३८॥ जो कि शिक्षायोग्य नहीं उसको शिक्षा करताहै और शून्य अर्थात् नहीं सेवन करनेयोग्यको जो कि सेवन करताहै और जो कि कृपणको सेवन करताहै हे राजन् ! उसको पंडितजन मूढचेता कहते हैं॥ ३९॥

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पंडित उच्यते ॥ ४० ॥
एकःसंपन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् ।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः कोनृशंसतरस्ततः ॥ ४१ ॥
एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यंते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥ ४२ ॥
एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥ ४३॥

जो कि अत्यन्त धन वा विद्या ऐश्वर्यको पाय मदमत्त न होकर विचरता है वह पंडित कहाहै ॥ ४० ॥ जो कि भृत्य, पुत्र, कलत्रादिकोंके लिये न बांटकर अकेला ही स्वादु पदार्थको भोजन करता है और अकेला ही सुन्दर वस्त्रोंको पहरताहै उससे अतिक्रूर कौन है अर्थात् कोई नहीं ॥ ४१ ॥ हे राजन्! एक ही पाप करताहै और बहुतजन उन पापोंके फलोंको भोगते हैं । परन्तु भोगनेवाले पापोंके दोषोंसे छूटजाते हैं और पाप करनेवाला पापोंके दोषसे लिप्त होजाता है ॥ ४२ ॥ धनुषधारीका छोडा हुआ बाण अकेलेको मारे अथवा न मारे परन्तु बुद्धिमान् कर छोडीहुई अर्थात् अनिष्टके लिये विचारी हुई बुद्धि राजा सहित देशको नाश करदेवे है ॥ ४३ ॥

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पंच जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥ ४४ ॥
एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मंत्रविप्लवः ॥ ४५ ॥
एकः स्वादु न भुंजीत एकश्चार्थान्न चिंतयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥ ४६ ॥

हे राजन् ! एक बुद्धिसे कार्य और अकार्य इन दोनोंको निश्चय कर साम, दान, दण्ड, भेद इन चारों उपयोंकर मित्र, उदासीन, शत्रु इन तीनोंको वशमें कीजिये और पांच इन्द्रियोंको जीतकर और अतिस्त्री-सेवन, द्यूतक्रीडा, अहेर खेलना, मदिरापान, खोटा वचन कहना, कठोरदंड, तथा वृथा धनदूषित करना इन सातोंको त्यागि और संधि, विग्रह, द्वैधीभाव, यान, आसन और आश्रय इन छः गुणोंको जानिकर सुखयुक्त हूजिये ॥ ४४ ॥ जो कि, पान करता है उसीको विषरस मारसकता है और शस्त्रसे अकेला ही माराजाता है परन्तु मन्त्र विप्लव अर्थात् मन्त्रका न छिपावना देश, प्रजा सहित राजाको मार-देता है ॥ ४५ ॥ अकेला ही स्वादु पदार्थको न भोजन करै और अकेला बहुत अर्थोंको न विचारे और अकेला मार्गको न चलै और

एकमेवाद्वितीयं तद्यद्राजन्नावबुध्यसे ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ४७ ॥
एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ४८ ॥
सोऽस्य दोषो न मंतव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमागुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ४९ ॥
क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शांतिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥ ५० ॥

बहुतसे सोतेहुओंमें अकेला न जागै ॥ ४६ ॥ जो कि एक अद्वितीय सत्य है उसको हे राजन् ! तुम नहीं जानतेहो जो स्वर्गके चढनेकी ऐसी सीढी है जैसे कि समुद्रके तैरनेकी नाव ॥ ४७ ॥ क्षमावालोंको मध्य एक ही दोष सिद्ध होताहै न कि दूसरा जो कि, इस क्षमायुक्त पुरुषको जन असमर्थ मानतेहैं ॥ ४८ ॥ वह इस क्षमायुक्तका दोष नहीं मानना चाहिये क्योंकि, क्षमा परम बल है दूसरा कारण यह है कि, असमर्थोंका क्षमा गुण है समर्थोंका भूषण है ॥ ४९ ॥ संसारमें एक क्षमा ही वशीकरण है क्षमासे क्या नहीं सिद्ध होता है ? किन्तु सबही सिद्ध हो जाता है। जिसके हाथमें शांतिरूप तलवार विद्यमान है उसका दुर्जन क्या करेगा ? अर्थात् दुर्जन उसका कुछभी

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति।
अक्षमावान्परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥ ५१ ॥
एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शांतिरुत्तमा।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ५२ ॥
द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ५३ ॥
द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिल्लोके विरोचते।
अब्रुवन् परुषं किंचिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥ ५४ ॥

नुकसान नहीं करसकेगा ॥ ५० ॥ जिस प्रकार कि तृणरहित स्थानमें गिराहुआ अग्नि स्वयंही बुझजाताहै तिसी प्रकार कि क्षमावालेके आगे आयाहुआ दुर्जन शान्त होजाताहै और जो कि क्षमायुक्त नहीं है वह अपने उत्तम आत्माको भी दोषोंसे युक्त करदेता है ॥ ५१ ॥ एक ही धर्म परम कल्याणरूप है और एक ही क्षमा उत्तम शांति है और एकही विद्या परम तृप्ति है और एक ही अहिंसा सुख देनेवाली है ॥ ५२ ॥ इन दोनोंको पृथ्वी ग्रस लेवैहै। जिस प्रकार कि बिलमें शयन करनेवाले जन्तुको सर्प ग्रसलेता है। एक तो शत्रुओंके साथ नहीं विरोध करनेवाला राजाको और दूसरे प्रदेशमें नहीं रहनेवाला ब्राह्मणको ॥ ५३ ॥ दो कर्म करताहुआ नर इस लोकमें

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ॥ ५५॥
द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥ ५६ ॥
द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारंभः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ५७ ॥
द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ ५८ ॥

प्रकाशमान होता है। एक तौ किंचिन्मात्र भी कठोरवाक्य नहीं कहता हुआ और दूसरा असज्जनोंका नहीं सत्कार करता ॥ ५४ ॥ हे पुरुषव्याघ्र ! यह दो जन दूसरेकी प्रतीति करनेवाले होते हैं। एक तौ दूसरेके चाहे हुएकी इच्छा करनेवाली त्रियां और दूसरा औरोंके पूजितकी पूजा करनेवाला जन॥ ५५ ॥ यह दो बडे तीक्ष्ण, शरीरके सुखानेवाले कंटक हैं। एक तो वह जो कि, निर्धन होकर मनोरथोंकी कामना करता है और दूसरा वह जो कि, निर्बल होकर क्रोध करता है ॥ ५६ ॥ दो पुरुष विपरीत कर्म करके नहीं विराजमान होतेहैं ? एक तो विना उद्यमवाला गृहस्थ और दूसरा कार्य करनेवाला संन्यासी ॥ ५७ ॥ हे राजन् ! यह दो पुरुष स्वर्गके ऊपर विराजमान

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ५९ ॥
द्वावंभासि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥ ६० ॥
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ ६१ ॥
त्रयोपाया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ ।
कनीयान्मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः ॥ ६२ ॥

होते हैं । एक तौ क्षमायुक्त सामर्थ्यवान् और दूसरा अतिदानी दरिद्र पुरुष ॥ ५८ ॥ न्यायसे प्राप्त हुए द्रव्यके दो उल्लंघन जाननेयोग्य हैं एक तौ अपात्रके अर्थ अर्पण करना और दूसरा पात्रके अर्थ न अर्पण करना ॥ ५९ ॥ दो पुरुष गलेमें दृढशिला बांधकर जलमें डुबाने योग्य हैं । एक तौ नहीं दान करनेवाला धनवान् और दूसरा नहीं तपस्या करनेवाला दरिद्र ॥ ६० ॥ हे पुरुषव्याघ्र ! यह दो पुरुष सूर्यमण्डलके भेदन करनेवाले हैं अर्थात् मोक्षभागी हैं एक तौ योगयुक्त संन्यासी और दूसरा संग्राममें सन्मुख मराहुआ वीर ॥ ६१ ॥ हे भरतर्षभ ! मनुष्योंके तीन उपाय सुने जाते हैं उनमें पहिला श्रेष्ठ, दूसरा मध्यम, तीसरा अधम है ऐसा वेदवेत्ता कहते हैं जो कि श्रेष्ठ

विविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः ।
नियोजयेद्यथावत्तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ६३ ॥
त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः ।
यत्ते समाधिगच्छंति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ ६४ ॥

है वह साम है और जो कि, मध्यम है वह दान तथा भेद हैं और जो कि, निकृष्ट है वह युद्ध है ॥ ६२ ॥ हे राजन् ! पुरुष भी तीन प्रकारके होते हैं एक उत्तम, दूसरा मध्यम, तीसरा अधम, उनको तीनों प्रकारके कर्मोंके विषे जो जिसके योग्य है उसीमें नियुक्त करै । इस कथनसे विदुरजीने यह जनाया कि, हे राजन् ! तुम उपायज्ञ नहीं क्योंकि, तुमने अधम शकुन्यादिकोंको उत्तम मंत्रियोंके कर्ममें नियुक्त किया है ॥ ६३ ॥ हे राजन् ! स्वामीके विद्यमान होनेपर तीन अधन रहते हैं । एक तो स्त्री, दूसरा नौकर, और तीसरा पुत्र, जिस स्वामीके जिस धनको वह स्त्री, नौकर और पुत्र पाते हैं वह धन और वह स्त्री, नौकर और पुत्र उस स्वामीके ही तो हैं भाव यह है स्वामीके विद्यमान रहनेपर स्वामीकी ही आज्ञासे स्त्री पुत्र और नौकर धनके मालिक हो सकते हैं न कि स्वतंत्र होकर इस कथनसे विदुरजीने यह जनाया कि, आप राज्य और अपने पुत्रादिकोंके स्वामी हैं इस कारण आप अपने पुत्रोंसे पाण्डवोंको राज्य दिला सकते हो । क्योंकि, आपके विद्यमान् रहनेपर पुत्रादिक राज्यके स्वामी नहीं वह तो तबतक ही

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥ ६५ ॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ ६६ ॥
वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात्त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ ६७॥
भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीनेताञ्छरणं प्राप्तान्विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥ ६८ ॥

मालिक रह सकते हैं जबतक कि, आप उनसे लेनेकी कांक्षा नहीं करते ॥ ६४ ॥ दूसरेके धनोंका हरण करना, परस्त्रियोंका बलात्कारसे दूषित करना, मित्रजनोंका त्यागना यह तीनों दोष नाशकारक हैं ॥ ६५ ॥ आत्माके नाश करनेवाला यह नरकका तीन प्रकारका द्वार है एक काम, दूसरा क्रोध, तीसरा लोभ तिससे इन तीनोंको त्याग देवे ॥ ६६ ॥ वरदान पाना, राज्य करना, पुत्रजन्म होना ये तीनों आनन्दके कारण हैं परन्तु शत्रुके कष्टसे छूटना यह एक ही आनन्द उन तीनोंके समान है। कारण कि, उन तीनोंके विषे इतना हर्ष नहीं होता है॥ ६७ ॥ जो कि, अपना भक्त है और जो कि अपनी सेवा करता है और जो कि, मैं तुम्हारा हूँ ऐसा कहता है

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन
वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात् ।
अल्पप्रज्ञैः सह मंत्रं न कुर्या-
न्नदीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥ ६९ ॥
चत्वारि ते तात गृहे वसंतु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्य धर्मे ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥ ७० ॥

इन शरण प्राप्त हुए तीनोंको संकटमें भी न त्यागे ॥ ६८ ॥ महाबली राजाके त्यागने योग्य जिन चारोंको नीतिवेत्ता कहते हैं उनको जो कि पंडित है वह जानता है । एक तो थोडी बुद्धिवालोंके साथ दूसरे दीर्घसूत्र अर्थात् शीघ्रताके कार्यमें विलम्ब करनेवालोंके साथ तीसरे रभस अर्थात् विचारशून्योंके साथ चौथे चारण अर्थात् बंदी जनोंके अथवा रणविरोधीके साथ बैठकर राजा सलाह न करे ॥ ६९ ॥ हे तात ! लक्ष्मीसम्पन्न जो आप तिनके गृहस्थधर्मवाले घरमें चार निवास करैं। एक तौ स्वज्ञातिवृद्ध, दूसरा अवसन्न कुलीन, तीसरा दरिद्र सखा, चौथी बिन सन्तानवाली बहिन कारण कि, अपने ज्ञातिका वृद्ध कुलधर्मोंको उपदेश करताहै और अवसन्न

चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः ।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोधमे ॥ ७१ ॥
देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम् ।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ॥ ७२ ॥

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छंत्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुतमानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ ७३ ॥

सज्जन बालकोंको आचार सिखाता है । और दरिद्र सखा हितकी वार्त्ता कहता है; और विन सन्तानवाली बहिन गृहकार्योंको भली प्रकार कराती है ॥ ७० ॥ हे महाराज ! पूछनेवाले इन्द्रके अर्थ बृहस्पतिजी जिन चारोंको शीघ्र फलसाधक कहते हुए उनको मुझसे श्रवण करिये ॥ ७१ ॥ एक तो देवताओंकी इच्छा, दूसरा बुद्धिमानोंका प्रभाव, तीसरा विद्यासम्पन्नजनोंका विनय, चौथा पापकर्मवालोंका विनाश ॥ ७२ ॥ चार कर्म अभय करनेवाले हैं परन्तु यथावत न किये हुए भयको देते हैं एक तो मानपूर्वक अग्निहोत्र, दूसरा मान पूर्वक मौन, तीसरा मानपूर्वक अध्ययन, चौथा मानपूर्वक

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचार्याः प्रयत्नतः ।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ७४ ॥
पञ्चैव पूजयँल्लोके यशःप्राप्नोति केवलम् ।
देवान्पितन्मनुष्यांश्च भिक्षूनातिथिपञ्चमान् ॥ ७५ ॥
पञ्चत्वानुगमिष्यंति यत्रयत्र गमिष्यसि ।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः॥ ७६ ॥
पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम् ।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ७७ ॥

यज्ञ ॥ ७३ ॥ हे भरतर्षभ ! गृह्यग्निवत् मनुष्यको अतियत्नसे सदा ही अवश्य पांच पूजनेयोग्य हैं । एक पिता, दूसरी माता, तीसरा यज्ञाग्नि, चौथा आत्मा, पांचवाँ गुरु ॥ ७४ ॥ लोकमें जन पांचोंको पूजता हुआ यश पाता है । एक तो देवताओंको, दूसरे पित्रोंको, तीसरे मनुष्योंको, चौथे भिक्षुओंको, पांचवें अतिथियोंको ॥ ७५ ॥ हे राजन् ! जहां २ तुम जाओगे तहां २ पांच जन तुम्हारे पिछाडी चलैंगे । एक मित्र, दूसरे शत्रु, तीसरे मध्यस्थ, चौथे उपजीव्य बन्दीआदिक, पाँचवें उपजीवी सेवक आदिक ॥ ७६ ॥ पांच इन्द्रिय वाले मनुष्यको यदि एक इंद्रिय छिद्र होवै अर्थात् विषयासक्त होवे तो उसी इंद्रियके विषयासक्त होनेसे उस मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट होजावे है

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्री भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ७८ ॥
षडिमान् पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७९ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ८० ॥
षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ ८१ ॥

जिसप्रकार कि दृति नाम चर्मके बने हुए मशक नाम पात्रसे जल बह जावे है ॥ ७७ ॥ भूति नाम ऐश्वर्य्यके चाहनेवाले पुरुषको इस लोकमें छः दोष त्यागने चाहिये एक तो अति सोना, दूसरा निद्राश्रमादिके आलस्यसे युक्त रहना, तीसरा डरना, चौथा क्रोध, पांचवाँ आलस्य, छठा दीर्घ सूत्रता अर्थात् शीघ्रताके कार्यमें देर करना ॥ ७८ ॥ जिसप्रकार कि, समुद्रके विषे टूटी हुई नावको त्याग देते हैं तिसी प्रकार इन छःओंको पुरुष त्याग देवे । एक तौ अप्रवक्ता आचार्य, दूसरा नहीं वेदके पढनेवाला ऋत्विज ॥ ७९ ॥ तीसरा नहीं रक्षा करनेवाला राजा, चौथी अप्रिय बोलनेवाली स्त्री, पांचवाँ ग्रामकी इच्छा करनेवाला गोपाल, छठा वनकी कामना करने वाला नापित अर्थात् नाई ॥ ८० ॥ ये छः गुण कदाचित् भी पुरु-

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८२ ॥
षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ ८३ ॥
षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते ।
चौराः प्रमत्ते जीवंति व्याधितेषु चिकित्सकाः ॥८४॥

षको नहीं त्यागने चाहिये । एक तो सत्य बोलना, दूसरा दान देना, तीसरा आलस्य युक्त न रहना, चौथा अनसूया अर्थात् दूसरेके गुणोंके विषे दोषका आरोपण न करना, पांचवाँ क्षमा, छठा धैर्य ॥ ८१ ॥ हे राजन् ! धनकी प्राप्ति और नित्य ही नीरोग रहना और प्रिय-बोलनेवाली प्रियभार्या और अपने आज्ञाकारी पुत्र और अर्थ करने-वाली विद्या, यह छः जीवलोकके सुख हैं ॥ ८२ ॥ आत्माके विषै नित्य स्थित रहनेवाले काम, क्रोध, शोक, मोह, मान और मद इन छःओंके ऐश्वर्यको जो नहीं प्राप्त होता है वह जितेंद्रिय पाप और अनर्थोंसे कैसे युक्त होसक्ता है अर्थात् कभी नहीं होसकता ॥ ८३ ॥ यह छःजन छः जनोंके विषै जीविका करते हैं । इनको जीविकाके लिये

प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः ।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ॥ ८५ ॥
षडिमानि विनश्यंति मुहूर्तमनवेक्षणात् ।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्यावृषलसङ्गतिः ॥ ८६ ॥
षडेते ह्यवमन्यंते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ॥ ८७॥
नारी विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥ ८८॥

सातवां नहीं मिलसक्ता है । चौर तो प्रमत्तजनोंसे और चिकित्सा करनेवाले रोगियोंसे और वेश्या कामीजनोंसे, यज्ञ करानेवाले यजमानोंसे, और विवाद करनेवालोंसे राजा और पंडित सदा ही मूर्खोंसे ॥ ८४ ॥ ८५॥ मुहूर्त्तमात्र न देखनेसे यह छः नष्ट होजावे हैं । एक तो गोधन, दूसरी सेवा, तीसरी खेती; चौथी भार्या, पांचवीं विद्या छठी शूद्रसंगति ॥ ८६ ॥ पूर्व उपकार करनेवालेको यह छः निरादर करदेते हैं । एक तौ शिष्यजन शिक्षित होकर पढानेवाले आचार्यका निरादर करते हैं, दूसरे पुत्र कृतदार अर्थात् स्त्रीको प्राप्त होकर अपने पालनेवाली माताका निरादर करते हैं ॥८७॥ तीसरे कामहीन होकर जन स्त्रीका निरादर करदेतेहैं और चौथे सेवक कृतार्थ अर्थात् कृतकार्य

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह संप्रयोगः ।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८९ ॥

ईर्षुर्घृणी न सन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥ ९० ॥

सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः ॥ ९१ ॥

होकर स्वामीका निरादर करदेते हैं, पांचवें जलसे उतरेहुए पथिकजन नावका निरादर करदेतेहैं और छठे रोगी जन आरोग्य होनेपर वैद्यका निरादर करदेतेहैं ॥ ८८ ॥ हे राजन् ! रोगका न होना और ऋणका न होना और परदेशमें निवास न होना और सज्जनोंके साथ संगम और अपने अनुकूल जीविका यह छः जीवलोकके सुख हैं ॥ ८९ ॥ यह छः नित्य ही दुःखित रहते हैं । एक तो ईर्ष्या करने वाला, दूसरा निर्दयी, तीसरा जो कि संतुष्ट न रहता हो, चौथा क्रोध करनेवाला, पांचवाँ सदा ही शंकायुक्त रहनेवाला, छठा दूसरेके भाग्य-पर जीवनेवाला ॥ ९० ॥ दुःखोंके उत्पन्न करनेवाले सात दोष राजाको सदा ही त्यागने चाहिये । जिन दोषोंसे कृतमूल अर्थात् पुष्टहुए जडवाले सामर्थ्यवान् भी नाशको प्राप्त होजाते हैं ॥ ९१ ॥

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम्।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ ९२ ॥
अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः।
ब्राह्मणान्प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥ ९३ ॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति ॥ ९४ ॥
नैनान्स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति।
एतान्दोषान्नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्धा विसर्जयेत् ॥ ९५ ॥

एक तो अति स्त्रीसेवन, दूसरा पाशाओंका खेलना, तीसरा अहेर खेलना, चतुर्थ मदिरापान, पांचवां वचनकी कठोरता, छठा अति दण्डकी कठोरता, सातवाँ धनका दूषित करना ॥ ९२ ॥ नाशको प्राप्त होनेवाले नरके नाश होनेके पूर्व निमित्त आठ हैं प्रथम तो जो कि, ब्राह्मणोंसे वैर करता है, दूसरा जिसने कि, ब्राह्मणोंके साथ विरोध किया है ॥ ९३ ॥ तीसरा जो कि, ब्राह्मणोंके धनोंको ग्रहण करता है, चौथा जो कि, ब्राह्मणोंके मारनेकी इच्छा करता है, पाँचवां जो कि, इन ब्राह्मणोंकी निन्दासे आनंदित रहताहै, छठा जो कि, इन ब्राह्मणोंकी प्रशंसाको नहीं अनुमोदित करताहै ॥ ९४ ॥ सातवाँ जो कि, इन ब्राह्मणोंको कार्योंके विषै नहीं याद करता है, आठवाँ जो कि,

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत ।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि ॥ १६ ॥
समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः ।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः सन्निपातश्च मैथुने ॥ १७ ॥
समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ॥ १८ ॥
अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।

स्वयं ब्राह्मणोंकर याचना कियाहुआ उलटा ब्राह्मणोंकी निंदा करताहै । इन दोषोंको पंडितजन जान लेवें और जानकर त्याग देवें ॥ ९९ ॥ हे भारत ! यह आठ माखनके सदृश सारभूत हर्षके कारण हैं और यह ही आठ सदा वर्तमानहुए जिसमें दीखते हैं उसके निजसुखरूप हैं ॥ ९६ ॥ एक तौ मित्रोंके साथ समागम होना, दूसरा धनका मिलना, तीसरा पुत्रके साथ मिलाप होना, चौथा मैथुनके समय सन्निपात, पांचवां समयके विषै प्रियवार्तालाप छठा स्वजातियोंमें उन्नति होनी, सातवां मनोरथका लाभ, आठवां मनुष्योंकी सभामें सत्कार ॥ ९७ ॥ ९८ ॥ आठ गुण पुरुषको प्रकाशमान करते हैं । एक तो

पराक्रमश्चाबहुभाषिता च

दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ९९ ॥

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम् ।

क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥ १०० ॥

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान् ॥

मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥ १०१ ॥

बुद्धि, दूसरी कुलीनता, तीसरा इन्द्रियोंका वशमें करना, चौथा शास्त्रश्रवण, पांचवां पराक्रम, छठा थोडा बोलना, सातवां शक्तिके अनुसार दान करना, आठवां कृतज्ञता अर्थात् किसीका कियाहुआ उपकार जानना ॥ ९९ ॥ यह शरीररूप तौ नौ दरवाजेवाला घर है, जिसमें अविद्या, काम, कर्म यह तीन धारण करनेवाले थूण हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पांच साक्षी हैं और यह क्षेत्रज्ञ आत्माकार अधिष्ठित है, इसको जो जानता है वह अत्युत्तम विद्वान् है ॥ १०० ॥ हे धृतराष्ट्रजी ! दश जन धर्मको नहीं जानतेहैं उनको श्रवण करिये। एक तौ मदिरादिसे मतवाला हुआ, दूसरा प्रमत्त अर्थात् विषयासक्त होनेसे असावधान हुआ, तीसरा अपस्मारादिसे उन्मत्त, चौथा मार्गादिश्रमसे थकाहुआ, पांचवां क्रोधी, छठा भूखा ॥ १०१ ॥

त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥ १०२ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥ १०३ ॥

य: काममन्यू प्रजहाति राजा
पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च ।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी
तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥ १०४ ॥
जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्
विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम् ।

सातवां भागताहुआ जानेवाला, आठवां लोभी, नववां भयभीत. दशवां कामी वह दश यह हैं तिससे धर्मके जाननेवाला पंडित इन दशोंके विषै नहीं आसक्त होय ॥ १०२ ॥ यहां इस पुरातन इतिहासको पूर्वाचार्य कहते हैं जो कि, पुत्रके अर्थ असुरेन्द्र सुधन्वाने गान किया है ॥ १०३ ॥ जो कि, राजा काम और क्रोधको त्यागताहै और पात्रके विषै धनको स्थापित करताहै और विशेष ज्ञानवान् तथा शास्त्राभ्यासयुक्त है और कार्यको शीघ्रता करताहै उस राजाका सर्व जन प्रमाण करते हैं ॥ १०४ ॥ जोकि, मनुष्योंका अपने विषै

जानाति मात्रां च तथा क्षमां च
तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥ १०५ ॥
सुदुर्बलं नावजानाति कञ्चि-
द्युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः
काले च यो विक्रमते स धीरः ॥ १०६ ॥
प्राप्यापदं न व्यथते कदाचि-
दुद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।

विश्वास करानेको जानताहै और जानेहुए दोषवालोंके विषै योग्य दण्ड रखताहै, और अपराधके अनुसार दण्डप्रमाणको जानताहै और क्षमाको धारण करताहै उस तादृश राजाको साक्षात् लक्ष्मी सेवन करतीहै ॥ १०५ ॥ जो कि, किसी शत्रुको भी दुर्बल नहीं जानताहै किन्तु बुद्धिपूर्वक शत्रुका सेवन करताहै और बलवानोंके साथ युद्धको नहीं कांक्षा करता है और समयपर यथोचित विक्रम करताहै, वह धीर है ॥ १०६ ॥ जो कि, आपदाको प्राप्त होकर कदाचित् भी व्यथित नहीं होताहै और सावधान हुआ उद्योगकी इच्छा करताहै, और समयपर दुःख सह लेताहै वह धुरंधर महात्मा है और उसीकर

दुःखं च काले सहते महात्मा
धुरंधरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥ १०७ ॥
अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः
पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम् ।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं
न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥ १०८ ॥
न संरंभेणारभते त्रिवर्ग-
माकारितः शंसति तत्त्वमेव ।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं
नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥ १०९ ॥

वैरी भी पराजित होतेहैं ॥१०७॥ जो कि, निरर्थक गृहोंसे परदेश निवास नहीं करताहै और पापीदुर्जनोंके साथ सलाह नहीं करताहै और परस्त्रियोंका बलात्कारसे स्पर्श नहीं करताहै, और कपट तथा चोरी और पिशुनता तथा मदिरापानको नहीं सेवन करताहै वह सदा ही सुखी रहताहै ॥ १०८ ॥ जो कि, क्रोधसे युक्त होकर त्रिवर्ग नाम धर्म, अर्थ, कामको नहीं आरम्भ करताहै, और किसीकर किसी विषयमें पूछाहुआ यथोचित तत्त्ववचन कहताहै और मित्रके अर्थ

न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च
न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति ।
नात्याह किंचित् क्षमते विवादं
सर्वत्र तादृग्लभते प्रशंसाम् ॥ ११० ॥
यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं
न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान् ।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किंचित्
प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥ १११ ॥

विवाद नहीं इच्छा करताहै और सत्कारको न प्राप्त होकर भी किसी पर नहीं क्रोधित होताहै वह विद्वान् है ॥ १०९ ॥ जो किसीको भी नहीं निन्दित करताहै किन्तु सर्वकाल दया ही करता रहताहै और आप निर्बल होकर किसीके साथ विरोध नहीं करताहै और किसीसे किञ्चिन्मात्र भी नहीं कठोर वचन कहताहै और विवादको शान्त करदेताहै तादृश वह पुरुष सब जगह प्रशंसा पाताहै ॥ ११० ॥ जो कि कदाचित् भी उद्धत अर्थात् भयंकर अथवा अपने अयोग्य वेषको नहीं करताहै और पुरुषार्थकर औरोंको बुरा नहीं कहताहै और मूर्छितहुआभी किसीसे किंचिन्मात्र कटुक वचन नहीं कहताहै उसको

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं
न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं
तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥ ११२ ॥
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुते च तापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥ ११३ ॥
देशाचारान्समयान् जातिधर्मान्
बुभूषते यः स परावरज्ञः ।

जन अपना प्रिय करलेतेहैं ॥ १११ ॥ जो कि, प्रशान्त नाम निवृत्तहुए वैरको फिर नहीं उठाताहै और न गर्वपर आरूढ होता है अर्थात् गर्व नहीं करता है और मैं दुर्गतिको प्राप्त होगयाहूँ ऐसा मानकर नहीं करने योग्य कर्मको नहीं करताहै उसको आर्यजन अतिश्रेष्ठ कहते हैं ॥ ११२ ॥ जो कि, अपने सुखके विषै हर्षको नहीं करताहै और दूसरेके दुःखके विषै भी हर्षित नहीं होताहै और देकरके पीछे सन्ताप नहीं करता है वह संसारमें सज्जन और आर्यशील कहाजाताहै ॥ ११३ ॥ जो कि, देशानुसार आचार और समयानुसार जातिधर्मोंको विभूषित करताहै वह ही परावरज्ञ अर्थात्

स यत्र तत्राभिगतः सदैव
महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥ ११४ ॥
दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं
राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं
यः प्रज्ञावान् वर्जयेत्स प्रधानः ॥ ११५ ॥
दानं मोहं दैवतं मङ्गलानि
प्रायश्चित्तान् विविधांल्लोकवादान् ।
एतानि यः कुरुते नैत्यकानि
तस्योत्थानं देवता राधयन्ति ॥ ११६ ॥

विद्वान् और वह जहां जाताहै तहां ही महात्माजनोंका आधिपत्य करताहै अर्थात् महात्माजनोंका अधिपति होताहै ॥ ११४ ॥ दम्भ और विषयादिकोंमें मोह तथा ईर्षा और पापकर्म तथा राजासे वैरभाव और चुगली तथा बहुतोंसे वैर और मतवाले तथा पागल और दुर्जनोंके साथ विवाद इनको जो बुद्धिमान् त्याग देवै वह श्रेष्ठ है ॥ ११५ ॥ दान और मोह अर्थात् प्रीति और दैवतकर्म तथा मङ्गल कार्य और प्रायश्चित्त तथा तरह २ के लोकवाद इनको नित्य ही जो

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः
समैः सख्यं व्यवहारं कथां च ।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति
विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥ ११७ ॥
मितं भुंक्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सं-
स्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥ ११८ ॥

करता है उसके उद्योगका देवता आराधन करतेहैं ॥ ११६ ॥ जो कि, समानोंके साथ विवाह और समानोंके साथ ही मित्रता और व्यवहार तथा कथाको करताहै और अपनेसे जो कि हीन है उनके साथ नहीं करता है और गुणोंसे विशेष हुए जनोंको सर्वकार्यमें अगाडी रख लेता है उस पण्डितकी नीति भलीप्रकार प्राप्त की हुई है ॥ ११७ ॥ जो कि, अपने आश्रित स्त्री, पुत्र, नौकर आदिके लिये बाँटकर प्रमाणिक भोजन करता है और अप्रमाणिक कर्म करके प्रमाणिक ही सोवता है और याचना कियाहुआ शत्रुओंके लिये भी दान देताहै उस आत्मवान् पण्डितको अनर्थ त्याग देतेहैं ॥ ११८ ॥

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य
नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किंचित् ।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च
नाल्पेऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः ॥ ११९ ॥
यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः
सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः ।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये
महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ॥ १२० ॥

जिस कर्मके करनेकी इच्छा हो और जो कि, कर्म थोडासा होकर बिगड गया हो उस कर्मको जिसको अन्यजन किंचिन्मात्र भी नहीं जानते हैं और जिसका भली प्रकार अनुष्ठित हुआ मन्त्र अर्थात् सलाह गुप्त रहता है उसका अल्पमात्र भी कोई अर्थ नहीं खण्डित होताहै ॥ ११९ ॥ जो कि समस्त प्राणियोंके शान्त करनेमें प्रवेश रहताहै और सत्य होकर सर्वसमयमें वर्त्तता है और कोमल स्वभाव होकर सबका सम्मान करता है और शुद्धभाव सदा रहता है वह ज्ञातिवालोंके मध्यमें अतीव उत्तम जाना गया है । जिस प्रकार कि उत्तम खानमें उत्पन्न हुआ महामणि अन्यमणियोंके मध्ये शुद्ध

य आत्मनापत्रपते भृशं नरः
स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत ।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः
स तेजसा सूर्य इवावभासते ॥ १२१ ॥

वने जाताः शापदग्धस्य राज्ञः
पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः ।
त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च
तवादेशं पालयंत्याम्बिकेय ॥ १२२ ॥

प्रदायैषामुचितं तात राज्यं
सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः ।

जानाजाता है ॥ १२० ॥ दूसरोंकर अपना दोष न ज्ञात होनेपरभी जो कि, केवल आत्मा ही कर किसी दोषसे होता है अत्यन्त लज्जित होता है वह नर समस्त लोकका गुरु होता है और जो कि, अनन्ततेजवाला होकर अतिमनस्वी और सावधान रहता है वह तेजकर सूर्यके समान प्रकाशमान होता है ॥ १२१॥ हे आम्बिकेय ! जो कि, शापसे दग्ध हुए पांडुके पांच इन्द्रके समान वनमें उत्पन्नहुए पांचों बालक पुत्र तुमने ही बढाये और पढाये हैं वह तुम्हारी आज्ञाका पालन कर रहेहैं ॥ १२२ ॥ इस कारण हे तात ! उनको यथोचित राज्य देकर पुत्रों सहित प्रमोदितहुए सुखी हूजिये । ऐसा करनेसे

न देवानां नापि च मानुषाणां
भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ॥ १२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥ [१]

धृतराष्ट्र उवाच ।

जाग्रतो दह्यमानस्य यत्कार्यमनुपश्यसि ।
तद्ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलोह्यसि ॥ १ ॥

हे नरेन्द्र ! तुम फिर न देवताओंके और न मनुष्योंके शंका करने योग्य हो वोगे ॥ १२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपवणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये श्रीपाठकवंशावतंसपंडित-मङ्गलसेनात्मजकाशिरामविरचित-भाषातिलके त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥ [१]

इसके अनन्तर धृतराष्ट्रजी महाराज फिर विदुरसे कहते हुए । हे तात ! जागनेवाले मुझ चिन्ताग्निसे जलतेहुएके करनेयोग्य जिस कर्मको आप देखते हौ उसको मुझसे कहिये । क्योंकि, तुम धर्म

त्वं मां यथावद्विदुर प्रशाधि
प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः ।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्त्व
श्रेयस्करं ब्रूहि तद्वै कुरूणाम् ॥ २ ॥
पापाशङ्की पापमेवानुपश्यन्
पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाहम् ।
कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथावन्
मनीषितं सर्वमजातशत्रोः ॥ ३ ॥

विदुर उवाच ।

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
अपृष्टस्तस्य तद्ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ॥ ४ ॥

और अर्थ इन दोनोंके विषे कुशल हौ ॥ १ ॥ हे विदुरजी ! आप मुझको बुद्धिपूर्वक यथोचित शिक्षा करिये और अजातशत्रु युधिष्ठिरको भी समस्त चेष्टित जताइये । हे अदीनात्मन् ! जो कि कौरवोंका हित और कल्याणकारक उपाय मानते हो वह मुझसे कहिये ॥ २ ॥ पापकी शंका करनेवाला मैं पापकोही देखता हूँ । इस कारण व्याकुल आत्माकर मैं तुमसे पूछता हूँ । हे कवे ! वह समस्त मुझसे यथावत् कहिये, जो कि युधिष्ठिरका वांछित है ॥ ३ ॥ तब इतना वचन सुन विदुरजी महाराज धृतराष्ट्रजीसे कहने लगे । हे महाराज ! या तौ

तस्माद्वक्ष्यामि ते राजन् हितं यत्स्यात्कुरून्प्रति ।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥ ५ ॥
मिथ्योपेतानि कर्माणि सिद्धयेयुर्यानि भारत ।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ६ ॥
तथैव योगविहितं यत्तु कर्म न सिद्ध्यति ।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ ७ ॥
अनुबन्धानपेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु ।
संप्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥ ८ ॥

शुभ हो वा अशुभ हो या प्रिय हो अथवा अप्रिय हो वह, बिना पूछा हुआ भी उससे कह देवै जिसका कि पराजय नहीं चाहताहो ॥ ४ ॥ तिससे हे राजन् ! तुमसे वह धर्मयुक्त कल्याणकारक वचन कहूँगा जो कि, कौरवोंके प्रति हितकारक हो । अब मुझ कहनेवालेसे श्रवण करिये ॥ ५ ॥ हे भारत ! जो कि, कर्म कपटयुक्त और असत् उपायोंसे संयुक्त हुए सिद्ध होतेहैं उनमें तुम अपना चित्त कदाचित् भी न करिये॥ ६॥ जो कि, कर्म यत्नसे बचा हुआ और उपायसे युक्त होकर भी न सिद्ध होवै तो उसमें बुद्धिमान् नर चित्तको न बिगाडै ॥ ७ ॥ प्रयोजनयुक्त कर्मोंके विषै प्रयोजनोंकी ही अपेक्षा करै और विचार करके कर्मोंको

अनुबन्धं च संप्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम् ।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥ ९ ॥
यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।
कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥ १० ॥
यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति ।
युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति ॥ ११ ॥
न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसांप्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ १२ ॥

करै और शीघ्रताके साथ कर्मोंका प्रारम्भ न करैं ॥ ८ ॥ प्रथम तौ प्रयोजन फिर कर्मोंका फल तत्पश्चात् अपना उद्यम अर्थात् करनेकी शक्ति इनको देखकर चतुर धीरजन कर्मोंको करै और इनको न देखकर नहीं करै॥९॥जो कि स्थिति और वृद्धि और क्षय और कोश और देश तथा दण्ड इनके विषै प्रमाणको नहीं जानता है वह राज्यके विषै नहीं स्थित रहता है ॥ १० ॥ जो कि धर्म अर्थ और ज्ञानके विषै युक्त हुआ इन कहेहुए प्रमाणोंको यथावत् जानता है वह राज्यको अधिगत होताहै ॥ ११ ॥ प्राप्त हुआ राज्य अयोग्यताके साथ नहीं वर्तना चाहिये क्योंकि, अविनय राज्यलक्ष्मीको शीघ्र ही नाश कर देवैहै जिस प्रकार कि उत्तम रूपको जरा (वृद्धावस्था) बिगाड

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम् ।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते ॥ १३ ॥
यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ १४ ॥
वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः ।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥ १५ ॥
यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
फलाद्रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥ १६ ॥

देती है ॥१२॥ जो कि देखनेमें उत्तम हो और परिणाममें बुरा हो ऐसे कर्मके करनेमें प्रयोजन नहीं देखताहै, वह भ्रष्ट होजाता है । जिस प्रकार कि उत्तम भक्षणयोग्य पदार्थसे ढकेहुए लोहके बने बडिशको लोभाभिपातीहुई मछली निगलजाती है और उसमें प्रयोजनको नहीं रखती है ॥ १३ ॥ जो कि भोज्य जेवनेके योग्य होय और जो कि जेंवाहुआ परिणामको प्राप्त होजावे और जो कि परिणाममें भी हितकारक हो वह भोज्य ऐश्वर्य चाहनेवालेको भोजन करनेयोग्य है ॥ १४ ॥ जो कि वृक्षके नहीं पकेहुए फलोंको इकट्ठा करता है वह उन फलोंसे रसको भी नहीं प्राप्त होता है और उसका बीज भी नष्ट होजाता है ॥ १५ ॥ जो कि समयपर परिणामको प्राप्त हुए पके फलोंका ग्रहण करता है वह उस फलसे रसको प्राप्त होता है और

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥ १७ ॥
पुष्पंपुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥ १८ ॥
किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि संचिंत्य कुर्याद्वा पुरुषो न वा ॥ १९ ॥

फिर उस फलके बीजसे फलको प्राप्त होता है ॥१६॥ जिस प्रकार कि भ्रमर फूलोंकी रक्षा करता हुआ मधुको ग्रहण करता है तिसी प्रकार मनुष्योंसे अहिंसाकर ही अर्थोंका ग्रहण करै ॥१७॥ जिस प्रकार कि माली बागमें फूल फूलोंको ग्रहण करता है और वृक्षके जडका छेदन नहीं करता है तिसी प्रकार राजा भी अपने राज्यमें प्रजाओंसे अर्थका ग्रहण करै और उन प्रजाओंका नाश न करै और जिस प्रकार कि अंगारकारक अर्थात् काष्ठजलानेवाला वृक्षके जडको छेदन करता है और उसके पत्रपुष्पादिको नहीं ग्रहण करता है तिस प्रकार राजाको प्रजाका छेदन न करना चाहिये ॥ १८ ॥ इस कर्मको करके मुझको क्या शुभ अशुभ फल होगा अथवा इस कर्मको न करके मुझको क्या शुभ अशुभ फल न होवैगा ऐसा विचारकर कर्मोंको करै और बिना विचारे कर्म न करै ॥ १९ ॥

अनारभ्या भवंत्यर्थाः केचिन्नित्यं तथाऽगताः ।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद्येषु निरर्थकः ॥ २० ॥
प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ २१ ॥
कांश्चिदर्थान्नरः प्राज्ञो लघुमूलान्महाफलान् ।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ॥ २२ ॥
ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषानुपिबन्निव ।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः ॥ २३ ॥

जो कि कोई एक अर्थ किसी प्रकार भी सदैव नहीं प्राप्त होसकते हैं वह नहीं आरम्भ करनेयोग्य हैं जैसे कि, सबलोंसे बैर आदि करना कारण कि, ऐसे जिन कार्योंके विषै जो पुरुषार्थ कियाजाता है वह पुरुषार्थ उन कार्योंके विषै निष्फल होजाता है॥ २०॥ जिसकी प्रसन्नता भी निष्फल हो और क्रोध भी निष्फल हो उसको लोक अपना स्वामी करना नहीं इच्छा करतेहैं । जिस प्रकार कि स्त्रियाँ नपुंसकको पति करना नहीं इच्छा करती हैं॥ २१॥ जिनकी जड तो अल्प हो और फल अधिक हो ऐसे जो कोई एक कार्य हैं उनके करनेको बुद्धिमान् नर शीघ्र ही आरम्भ करै किन्तु ऐसे कर्मोंके करनेमें विघ्न न करै ॥ २२ ॥ जो कि, नेत्रोंसे मानो सब लोकोंको पीताहुआ सरलतापूर्वक देखता है वह यदि मौन होकर भी बैठा हो तथापि उसका समस्त प्रजा अनुराग करती है । भाव

सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद्दुरारुहः ।
अपक्वः पक्वसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥ २४ ॥
चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥ २५ ॥
यस्मात्त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव ।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥ २६ ॥

यह है कि, जो अपनी दृष्टिमात्रसे ही सबको प्रसन्न करता है वह यदि न भी बोले तब भी उसमें प्रजा प्रीति करती है ॥ २३ ॥ जिस प्रकार कि कोई वृक्ष सुन्दर २ फूलोंसे तो युक्त रहता है परन्तु फलोंसे युक्त नहीं रहता है तिसी प्रकार कोई जन केवल वचनादिकोंसे तो प्रीतिको दिखाते हैं पर धनादिकोंको नहीं देते और जिस प्रकार कि कोई वृक्ष फलोंसे युक्त रहता है पर सुखकर चढने योग्य नहीं होता किन्तु दुःखकर चढनेयोग्य होता है । तिसीप्रकार कोई जन धनादि तो देते हैं पर सुखाराध्य नहीं होते किन्तु दुराराध्य होतेहैं और जिस प्रकार कि, कोई नहीं पकाहुआ फल पकेहुएके समान दीखता हुआ कदाचित् नहीं विशीर्ण होता है तिसी प्रकार कोई निर्बली जन बलीके समान भीतर बाहिरसे शक्तिको दिखाताहुआ नहीं भ्रष्ट होताहै ॥ २४ ॥ जो कि, नेत्र, मन, वाणी और कर्म इनसे चारों तरह लोकको प्रसन्न करता है उसपर लोक प्रसन्न होताहै ॥ २५ ॥ जिस प्रकार मृगके सिकारीसे मृग डरतेहैं तिसी प्रकार जिससे प्राणी डरतेहैं वह

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान्स्वेन कर्मणा ।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥ २७ ॥
धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसंपूर्णा वर्धते भूतिवर्धनी ॥ २८ ॥
अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः ।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥ २९ ॥
य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने ।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ ३० ॥

समुद्रपर्यंत पृथ्वीको पाकर भी भ्रष्ट होजाता है ॥ २६ ॥ वह अपने पूर्वार्जित कर्मसे पितृ पितामहके राज्यको प्राप्त होकर अनीतिमें स्थित हुआ नाश करदेताहै जिस प्रकार कि, पवन बादलोंको प्राप्त होकर नाश करदेवै है ॥ २७ ॥ धर्म और शिष्टजनोंके आचरण कियेहुए वृत्तोंको आदिसे सेवन करतेहुए राजाका ऐश्वर्य बढानेवाली द्रव्योंसे परिपूरित हुई पृथ्वी बढती है ॥ २८ ॥ और धर्मके त्यागनेवाले और अधर्मके सेवन करनेवाले राजाकी पृथ्वी संकुचित होजाती है अर्थात् बहुफलको नहीं देती है. जिस प्रकार कि, अग्निमें रक्खाहुआ चर्म संकुचित होजाता है ॥ २९॥ जो कि, यत्न वैरीके राज्यके मर्दन करनेमें किया जाता है वह ही यत्न अपने राज्यकी रक्षा करनेमें करना चाहिये ३०॥

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥ ३१ ॥
अप्युन्मत्तात्प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः ।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥ ३२ ॥
सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः ।
सञ्चिन्वन्धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥ ३३ ॥
गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ३४ ॥

जब कि, धर्मसे राज्यको प्राप्त होता है तो धर्मसे ही राज्यकी रक्षा करै । कारण कि, धर्म है मूल जिसकी ऐसी लक्ष्मीको प्राप्त होकर फिर उस लक्ष्मीको नहीं त्यागसकता है और न वह लक्ष्मीकर त्यागाजाता है ॥ ३१ ॥ अनर्थवाक्य कहनेवाले उन्मत्त और वृथाबकतेहुए बालकसे भी सबप्रकारसे सारवार्ताको ग्रहण करलेवे जिस प्रकार कि, पत्थरोंके मध्यसे खोजकर सुवर्ण ग्रहण कियाजाता है ॥ ३२ ॥ इधर उधरसे भलीप्रकार कहेहुए सुन्दर सुन्दर हितकारक वाक्योंको संचय करता हुआ धीरजन स्थित होवै जिस प्रकार कि शिल बिननेवाला शिलको एक एक बिनता हुआ स्थित होताहै ॥ ३३ ॥ गौ आदि पशु गन्धसे देखते हैं और ब्राह्मण वेदोंकर देखते हैं और राजा संदेश देनेवाले दूतोंके द्वारा देखते हैं और नेत्रोंसे अन्यजन

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
अथ या सुदुहा राजन्नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ३५ ॥
यदतप्तं प्रणमति न तत्संतापयन्त्यपि ।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत्संतापयंत्यपि ॥ ३६ ॥
एतयोपमया धीरः सन्नमेत बलीयसे ।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ३७ ॥
पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मंत्रिबान्धवाः ।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ॥ ३८ ॥

देखते हैं ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! जो कि, गौ दुःखकर दुहनेयोग्य होवै है बहुत क्लेश पावती है और जो कि, सुखपूर्वक दुहेजानेवाली होवै है उसको कोई जन नहीं व्यथित करता है ॥ ३५ ॥ जो कि, नहीं संतप्त कियाहुआ ही नम्र होजाता है उसको कोई जन नहीं संतप्त करता है जिस प्रकार कि जो काष्ठ स्वयं ही नवा हुआ है उसको कोई भी नहीं नवाता है ॥ ३६ ॥ इस उपमाकर धीरजन बलवान्के लिये नवजावै जो कि बलवान्के लिये नवता है वह साक्षात् इन्द्रके लिये नवजाता है। इस कथनसे यह जानागया कि जो बलीके अर्थ नम्र होता है उसपर इन्द्र प्रसन्न होकर उसका कल्याण करता है ॥ ३७ ॥ पशुओंके रक्षक मेघ हैं और राजाओंके सहायक मन्त्री हैं और स्त्रियोंके बान्धव पति हैं और ब्राह्मणोंके बान्धव वेद हैं ॥ ३८ ॥

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ ३९ ॥
मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः ।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचेलतः ॥ ४० ॥
न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।
अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥ ४१ ॥

त्सयसे धर्मकी रक्षा होवैहै और अभ्याससे विद्याकी रक्षा होवैहै और मार्जनोद्वर्त्तनादि शुद्धिसे रूपकी रक्षा होवैहै और शुभ आचारसे कुलकी रक्षा होवैहै ॥ ३९ ॥ तोल मापसे धान्य रक्षित रहता है और अनुक्रम नाम चलाना फिराना आदि घोडोंकी रक्षा करता है और बारंबारका देखना गौओंकी रक्षा करता है और मलीन तथा कुत्सित वस्त्रोंसे स्त्रियां रक्षित रहती हैं ॥ ४० ॥ मेरा विचार तो ऐसा है कि. आचारवर्जित जनका कुछ प्रमाण नहीं होता है कारण कि, नीचकुलमें उत्पन्न हुए जनोंका भी आचार ही कुलसे विशेष होता है भाव यह हैं कि, जो आचारसे भ्रष्ट है उनका कुल यदि उत्तम हो तब भी माननीय नहीं और जो, कि आचारसे युक्त है वह यदि नीचकुलमें भी जन्म हो तब भी माननीय है ॥ ४१ ॥

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये ।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥ ४२ ॥
अकार्यकारणाद्भीतः कार्याणां च विवर्जनात् ।
अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत्पिबेत् ॥ ४३ ॥
विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः ।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥ ४४ ॥
असंतोऽभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित्कार्ये कदाचन ।

जो कि, दूसरोंके धनोंमें तथा रूप, वीर्य, कुल, सुख, सौभाग्य, सत्कारमें ईर्षा करताहै उसको वह व्याधि विद्यमान रहतीहै जिसका कि, कभी अन्त नहीं होता ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! नहीं करने योग्य कार्यके करनेसे और करनेयोग्य कार्यके त्यागनेसे और असमयमें मंत्र-भेदसे अर्थात् कार्यके न सिद्ध होनेसे पूर्व ही सलाहके प्रकट होजानेसे भयभीत रहै और जिसके पान करनेसे मदको प्राप्त होजावे उसको नहीं पान करै ॥ ४३ ॥ एक विद्यामद, दूसरा, धनमद, तीसरा परिवार सहाय मद है, गार्विष्ठोंके यह तीनों मद हैं और सज्जनोंके यह तीनों दम हैं । भाव यह है कि, यह तीनों मद गार्विष्ठोंके विषे विद्यमान हुए अतीव गर्वको प्रकाशित करते हैं और सज्जनोंके विषे विद्यमान हुए

तावन्न तस्य सुकृतं किंचित्कार्यं कदाचन ।
मन्यन्ते संतमात्मानमसंतमपि विश्रुतम् ॥ ४५ ॥
गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः ।
असतां च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः ॥ ४६ ॥
जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता ।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥ ४७ ॥
शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः ॥ ४८ ॥

अतीव सज्जनताको प्रकाशित करते हैं ॥ ४४ ॥ कदाचित् किसी कार्यमें सज्जनोंकर असज्जन प्रार्थना किये जावैं तो वह असज्जन चाहैं कार्य तौ न करसकैं पर तब भी सज्जनोंकी प्रार्थना मात्रसे अपने असत् आत्माको अच्छा मानते हैं ॥ ४५ ॥ ज्ञानवान् जनोंकी गति सज्जन होते हैं और सज्जन ही सज्जनोंकी गति होवे हैं और असज्जनोंकी गति भी सज्जन होते हैं परंतु सज्जनोंकी गति असज्जन नही होतेहैं ॥ ४६ ॥ सभा वस्त्रवालेसे पराजित होवे है और मिष्ट २ भोजनादिकोंकी आशा गो रखनेवालेसे पराजित होवैहै और मार्ग सवारीवाले जनसे पराजित होताहै और जो कि, शीलवान् है उससे सब पराजित होताहै अर्थात् शीलवान् सबको जीतलेता है ॥ ४७ ॥ पुरुषमें शील प्रधान है वह शील जिसका इसलोकमें नष्ट होजाताहै उसका

आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम्।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ॥ ४९ ॥
संपन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा।
क्षुत्स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा ॥ ५० ॥
प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
जीर्यन्त्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ॥ ५१ ॥
अवृत्तिर्भयमंत्यानां मध्यानां मरणाद्भयम्।
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात्परं भयम् ॥ ५२ ॥

अर्थ न जीवनसे और न धनसे न बन्धुओंसे होताहै॥४८॥हे भरतर्षभ! धनवानोंका भोजन वह होताहै जिसमें मांस अधिक हो और मध्यम जनोंका भोजन वह होताहै जिसमें गोरस नाम दुग्ध, घृत, दध्यादिक, बहुत हों और दरिद्रजनोंका भोजन वह होताहै जिसमें तैल अधिक हो॥४९॥ दरिद्रजन सदा केवल अन्नको ही अतिस्वादुपूर्वक भोजन करते हैं कारण कि, क्षुधा उस अन्नके भोजन करनेमें उनको जैसी स्वादुत उत्पन्न कराती है वैसी धनवानोंके विषै दुर्लभ होवे है ॥५०॥ हे महीपते! संसारमें बहुधा लक्ष्मीवानोंको भोजन करनेकी शक्ति नहीं होवैहै पर दरिद्रजनोंके पेटमें भोजन किये हुए काष्ठ भी पचजाते हैं ॥५१॥ अधम वा दरिद्रजनोंको जीविकाके न होनेका भय होताहै और

ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः ।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते ॥ ५३ ॥
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः ।
तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव ॥ ५४ ॥
यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा ।
आपदस्तस्य वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥ ५५ ॥
अविजित्य यथात्मानममात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान्वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ ५६ ॥

मध्यमजनोंको मरणसे भय होताहै और उत्तमजनोंको अवमान होनेसे परम भय होताहै ॥ ५२ ॥ जो कि, मदिरापानादिक मद है उनमें ऐश्वर्यमद अतीव निन्दित है कारण कि, ऐश्वर्यमदसे मतवाला हुआ जन जबतक कि दरिद्रताको नहीं प्राप्त होताहै तबतक नहीं सावधान होता है. किन्तु दरिद्रताको प्राप्त होकर ही सावधान होताहै ॥ ५३ ॥ जो कि, इंद्रिय विषयोंके विषै वर्तमानहुए विषयाधीन हैं उन्ही इंद्रियों कर यह जन दबायाजाताहै जिसप्रकार कि ग्रहोंकर नक्षत्र दबायेजाते हैं ॥ ५४ ॥ स्वभावसे ही अपने खींचनेवाले पांचों इंद्रियोंकर जो वशीभूत होजाताहै उसको आपदा बढती जातीहै जिसप्रकार कि शुक्लपक्षमें चंद्रमा बढताजाता है ॥ ५५ ॥ जो कि, अपने आत्माको

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण योजयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ ५७ ॥
वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु ।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यंतं श्रीर्निषेवते ॥ ५८ ॥

रथः शरीरं पुरुषस्य राज-
न्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ ५९ ॥

नहीं जीतकर अमात्य और शत्रओंके जीतनेकी इच्छा करताहै उससे अमात्य और शत्रु भी नहीं जीतेजाते हैं. वह आपही अवश होकर राज्यसे भ्रष्ट होजाताहै ॥ ५६ ॥ प्रथम आत्माको ही वैरीरूपकर युक्त करै अर्थात् प्रथम मनको जीतलेवै तदनन्तर जिस प्रकार कि, निष्फल उद्योग न हो तिस प्रकार अमात्य और शत्रुओंके जीतनेकी इच्छा करै ॥ ५७ ॥ जिसके इन्द्रियगण वशीभूत रहतेहैं और जिसने अपने मनको जीतलियाहै और जिसने अपराधियोंके विषै दण्ड रक्खा है और जो परीक्षा करके कार्य करता है उस धीर राजाकी सदा ही लक्ष्मी सेवा करती हैं ॥ ५८ ॥ हे राजन् ! इस पुरुषका शरीर तो रथ है और आत्मा सारथि है और इन्द्रिय घोडे हैं उनको वशमें किये

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ ६० ॥
अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थं चैवाप्यनर्थतः ।
इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥ ६१ ॥
धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ ६२ ॥
अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद्भ्रश्यते हि सः ॥ ६३ ॥

हुए इन्द्रियरूप घोडोंकर सावधान हुआ कुशलयुक्त धीरजन इस प्रकार संसारमें विचरता है जिस प्रकार रथी अच्छीतरह वशमें कियेहुए श्रेष्ठ घोडाओंकर मार्गमें चलताहै ॥ ५९॥ यह नहीं वशमें कियेहुए ही इंद्रियरूपघोडा आत्माके नाशकरनेको समर्थ भी होसकते हैं. जिसप्रकार कि, नहीं शिखलायेहुए और नहीं वशमें कियेहुए घोडे मार्गमें सारथिको पटक देतेहैं ॥ ६० ॥ जो कि नहीं जीतेहुए इन्द्रियोंसे पराजित हो अनर्थको अर्थ करदेखता और अर्थको अनर्थ कर देखताहुआ दुःखको सुख मानता हैं वह मूर्ख है॥ ६१॥ जो कि, धर्म और अर्थ इन दोनोंको त्यागकर इन्द्रियोंके वशमें चलताहै वह लक्ष्मी और प्राण और धन तथा स्त्रियोंसे शीघ्र ही भ्रष्ट होजाताहै ॥ ६२ ॥ जो कि, अर्थोंका तो स्वामी है पर इन्द्रियोंका स्वामी नहीं है वह इंद्रियोंका स्वामी न होनेसे ऐश्वर्यसे

आत्मनात्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एव नियतो रिपुः ॥ ६५ ॥
क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपि हितावुरू ।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुंपतः ॥ ६६ ॥
समवेक्ष्येह धर्मार्थौ संभारान् योऽधिगच्छति ।
स वै संभृतसंभारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥

भ्रष्ट हो जाताहै भाव यह है कि, ऐश्वर्य पाकर जो कि, अपने इन्द्रियोंको वशमें नहीं रखताहै वह इसी दोषकर ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होजाताहै ॥ ६३ ॥ आत्माकर रोकेहुए मन बुद्धि और इन्द्रियोंसे आत्माको अपने वशीभूत करै यह आत्मा ही आत्माका बन्धु और आत्मा ही आत्माका शत्रु है६४ जिस आत्माकर आत्मा जीतागया है उसी आत्माका आत्मा बंधु है और जिस आत्माकर आत्मा नहीं जीतागयाहै उसी आत्माका आत्मा शत्रु है इस कारण आत्मा ही अपना नियत बन्धु और आत्मा ही अपना नियत शत्रु है ॥ ६५ ॥ जिस प्रकार कि, जालकर फँसे-हुए दो महत् मछली थोडेसे ही छिद्रकर जालको काटदेते हैं तिसी-प्रकार हे राजन् ! काम और क्रोध यह दोनों बुद्धिके थोडेसे छिद्र-

यः पञ्चाभ्यंतराञ्शत्रूनविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ६८ ॥
दृश्यन्ते हि महात्मानो बध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वाद्राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ ६९ ॥
असंत्यागात्पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावा-
त्तस्मात्पापैः सह सन्धिं न कुर्यात् ॥ ७० ॥

मात्रकर महत् ज्ञानको लोप करदेतेहैं ॥६६॥ जो कि, यहां धर्म और अर्थ इन दोनोंको देखकर साधनोंको प्राप्त होताहै वह संचितसाधनोंवाला निरन्तर सुख पातारहता है ॥६७ ॥ जो कि, मन है प्रधान जिनमें ऐसे भीतरके पांचों इंद्रियरूप शत्रुओंको न जीतकर अन्यशत्रुओंको जीतना चाहताहै उसको वह शत्रु ही पराजित करदेतेहैं॥६८॥ जिस प्रकार कि अपने कर्मोंसे बंधेहुए महात्माजन दीखते हैं तिसी प्रकार इंद्रियोंके वशमें न करनेसे राज्य विभ्रमोंकर बंधे हुए राजा लोग दीखतेहैं ॥६९॥ पापकर्म करनेवालोंका त्याग न करनेसे किन्तु उनके साथ मिलनेसे अपापियोंको भी पापियोंके समान दण्ड स्पर्श करता है. जिस प्रकार कि, सूखे ईंधनके साथ मिलनेसे गीला ईंधन जलजाता है. तिस कारण पापियोंके साथ सलाह न करै ॥ ७० ॥

निजानुत्पततः शत्रून्पंच पंचप्रयोजनान् ।
यो मोहान्न विगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम् ॥ ७१ ॥
अनसूयार्जवं शौचं सन्तोषः प्रियवादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवंति दुरात्मनाम् ॥ ७२ ॥
आत्मज्ञानमनायासस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
वाक् चैव गुप्ता दानं च नैतान्यंत्येषु भारत ॥ ७३ ॥
आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसंत्यबुधा बुधान् ।
वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ॥ ७४ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध यह पांच विषय हैं जिनके ऐसे नहीं वशमें रहनेवाले पांच इंद्रियरूप शत्रुओंको जो मोहसे नहीं रोकसकता है उस नरको आपदा ग्रसलेवै है ॥ ७१ ॥ अनसूया नाम दूसरोंके गुणोंमें दोष न लगाना और आर्जव नाम कोमल स्वभाव होना और शौच नाम पवित्र रहना और सन्तोष और प्रिय बोलना और दम नाम इन्द्रियोंका रोकना और सत्य तथा अनायास नाम स्थिरता यह गुण दुरात्माओंमें नहीं होते हैं ॥ ७२ ॥ हे भारत ! आत्मज्ञान और स्थिरता और सहनशील होना और सदैव धर्मका बनारहना और गुप्तभाषण और दान यह गुण नीचजनोंमें नहीं होते हैं ॥ ७३ ॥ आक्रोश नाम कठोर बोलना और परिवाद नाम निन्दा इन दोनोंसे मूर्खजन पण्डितोंकी हिंसा करते हैं। पर कठोर बचन और निन्दाके

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७५ ॥
वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहुभाषितुम् ॥ ७६ ॥
अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता ।
सैव दुर्भाषिता राजन्नर्थायोपपद्यते ॥ ७७ ॥
रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ७८ ॥

कहनेवाला ही पापको ग्रहण करता है और सहनेवाला उस पापसे छूटजाता है ॥ ७४ ॥ असाधु नाम दुरात्माओंका बल हिंसा है और राजाओंका बल दण्डविधि है और स्त्रियोंका बल शुश्रूषा है और गुणवानोंका बल क्षमा है ॥ ७५ ॥ हे नृपते ! संसारमें वचनका रोकना ही अत्यन्त दुष्कर मानागया है जो कि वचन अर्थसे युक्त और भावसे चित्रविचित्र है वह बहुत बोलनेको नहीं समर्थ होसकताहै॥ ७६॥ हे राजन् ! सुन्दर प्रकार कहीहुई वाणी विविधकल्याणको प्राप्त करती है । और वह ही वाणी कठोरतापूर्वक कहीहुई अनर्थके लिये प्राप्त होवहै ॥७७॥ बाणोंसे विदीर्ण कियाहुआ शरीर फिर भर आता है और कुल्हाडीसे काटा हुआ वन फिर जमआता है पर

कर्णिनालीकनाराचा निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥ ७९ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति राव्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान्पण्डितो नावसृजेत्परेभ्यः ॥ ८० ॥

यस्मै देवाः प्रयच्छंति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षंति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८१ ॥

बाणीसे कठोर कहना रूप भयंकर वाणीका घाव फिर नहीं भरता है ॥ ७८ ॥ कर्णी और नालीक और नाराच संज्ञक लगेहुए बाणोंको फिर मारनेवाला शरीरसे निकालसकता है परन्तु वाणीरूप बाण फिर निकालनेको नहीं समर्थ होताहै । क्योंकि वह वाणीरूप बाण मरण-पर्यन्त ह्रदयमें ही सोता है ॥ ७९॥ बाणी रूप बाण मुखसे इस प्रकार निकलते हैं जिनकर ताडाहुआ जन रात्रिदिन शोच करता है और वह दूसरेके मर्मस्थलोंके व्यतिरिक्त और जगह नहीं गिरते हैं किन्तु मर्मस्थलोंके विषै ही गिरतेहैं इसकारण उन बाणीरूप बाणोंको पंडितजन दूसरोंके लिये न छोडै ॥ ८० ॥ जिस पुरुषके लिये देवता

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ८२ ॥
सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां विरोधेन न चैनानवबुध्यसे ॥ ८३ ॥
राजा लक्षणसंपन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥ ८४ ॥

पराजय देते हैं उसकी बुद्धिको खींचलेते हैं वह फिर बुद्धि हर-जानेपर नीचकर्मोंको ही देखता है ॥ ८१ ॥ विनाशके उपस्थित होनेपर बुद्धि मलीन होजाती है उस समय नीतिके समान अनीति उसके हृदयसे नहीं निकलती है । भाव यह है कि जिस समय विना-शकाल आता है उस समय बुद्धि मन्द होजावैहै और बुद्धिके मन्द होनेपर नीति उसके हृदयमें नहीं रहती है किन्तु अनीति स्थित रहती है ॥ ८२ ॥ हे भरतर्षभ ! सो यह ही बुद्धि तुम्हारी भी पुत्र और पाण्डवोंके विरोधसे आकर प्राप्त हुई है । इसको तुम नहीं जानते हो ॥८३॥ जो कि लक्षणोंसे युक्त होताहै वह ही तीनों लोकोंका राजा होसकता है । इस कारण हे धृतराष्ट्रजी ! तुम्हारे शिष्य वह युधिष्ठिरजी

अतीव सर्वान्पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः ।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ८५ ॥
अनुक्रोशादानृशंस्याद्योऽसौ धर्मभृतां वरः ।
गौरवात्तव राजेन्द्र बहून्क्लेशांस्तितिक्षति ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥ [२]

पृथ्वीके शासन करनेवाले होवैं ॥ ८४ ॥ वह युधिष्ठिरजी तुम्हारे समस्त पुत्रोंके प्रति राज्यके भागमें मुख्य होवैं क्योंकि वह तेज और बुद्धिसे युक्त और धर्म अर्थके तत्त्वके जाननेवाले हैं ॥ ८५ ॥ हे राजेन्द्र ! जो कि धर्मधारियोंके मध्यमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर हैं वह दया और अक्रूरता तथा तुम्हारे गौरवसे बहुतसे क्लेशोंको सहरहे हैं ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये श्रीपाठकवंशावतंस-पंडितमङ्गलसेनात्मजकाशिरामविरचितभाषा-तिलके चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ [२]

धृतराष्ट्र उवाच।

ब्रूहि भूयो महाबुद्धे धर्मार्थसहितं वचः।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे ॥ १ ॥

विदुर उवाच।

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥ २ ॥
आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर धृतराष्ट्रजी महाराज विदुरजीसे फिर कहतेहुए हे महाबुद्धे! धर्म, अर्थ, सहित बचन फिर कहिये क्योंकि तुम्हारे वाक्यके सुनते २ मेरी तृप्ति नहीं होवै है कारण कि आप विचित्र वचन कहते हौ ॥ १ ॥ तब विदुरजी महाराज फिर राजा धृतराष्ट्रसे कहनेलगे। हे राजन्! एक तौ समस्त तीर्थोंमें स्नान करना, दूसरा समस्त प्राणियोंमें आर्जव अर्थात् विषमता न करना यह दोनों समान हैं। पर समस्त तीर्थोंके स्नानसे समस्त प्राणियोंमें विषमता न करना ही श्रेष्ठ है॥२॥ इससे हे विभो! अपने पुत्रोंके विषै और पांडवोंमें सदा ही आर्जव अर्थात् समताको प्राप्त हूजिये। समता करनेसे इस लोकमें परमकीर्ति

यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते ।
तावत्स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते ॥ ४ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विरोचनस्य संवादं केशिन्यर्थे सुधन्वना ॥ ५ ॥
स्वयंवरे स्थिता कन्या केशिनी नाम नामतः ।
रूपेणाप्रतिमा राजन् विशिष्टपतिकाम्यया ॥ ६ ॥
विरोचनोऽथ दैतेयस्तदा तत्राजगाम ह ।
प्राप्तुमिच्छंस्ततस्तत्र दैत्येन्द्रं प्राह केशिनी ॥ ७ ॥

पाय मरकर स्वर्ग पावोगे ॥ ३ ॥ हे पुरुषव्याघ्र ! जबतक संसारमें मनुष्यकी पवित्र कीर्त्ति गान की जाती है तबतक वह स्वर्गलोकमें विराजमान रहताहै ॥ ४ ॥ यहां पूर्वाचार्य एक पुराना इतिहास कहते हैं जिसमें केशिनीके अर्थ सुधन्वाके साथ विरोचनका संवाद है ॥ ५ ॥ हे राजन् ! श्रेष्ठ पतिके पानेकी इच्छासे एक केशिनी नाम कन्या स्वयंवरमें स्थित थी । कैसी वह कन्या थी कि, जिसके समान रूप करके कोई भी न थी ॥ ६ ॥ उस समय उस स्वयंवरके विषै केशिनीके प्राप्त करनेकी इच्छावाला विरोचन दैतेय आवताहुआ तदनन्तर उस स्वयंवरमें केशिनी विरोचन नाम दैत्यराजसे कहनेलगी ॥ ७ ॥

केशिन्युवाच ।

किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांसो दितिजाः स्विद्विरोचन ।
अथ केन स्म पर्यङ्कं सुधन्वा नाधिरोहति ॥ ८ ॥

विरोचन उवाच ।

प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः ।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः ॥ ९ ॥

केशिन्युवाच ।

इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन ।
सुधन्वा प्रातरागन्ता पश्येयं वां समागतौ ॥ १० ॥

हे विरोचन ! मैं तुमसे पूछतीहूँ कि, क्या ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं कि दैत्य क्या सुधन्वा ब्राह्मण हमारे पर्यङ्कपर नहीं चढसकता है किन्तु चढसकता है कारण कि वह श्रेष्ठ है और तुम श्रेष्ठ नहीं ॥ ८ ॥ तब विरोचन उस कन्यासे कहने लगा हे केशिनी ! हम प्रजापतिके सन्तान अतीव श्रेष्ठ हैं और हमारे ही यह सर्वलोक हैं देवता कौन होते हैं और ब्राह्मण कौन होते हैं ! ॥ ९ ॥ तब केशिनी कहनेलगी । हे विरोचन ! यहां मेरे समीप सुधन्वाके आगमनमें हम तुम दोनों प्रतीक्षा करते हैं सुधन्वा प्रातःकाल आवैंगे तब मैं तुम आयेहुए दोनोंको देखूंगी ॥ १० ॥

विरोचन उवाच।

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टासि सङ्गतौ ॥ ११ ॥

विदुर उवाच।

अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमण्डले।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम।
विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः ॥ १२
सुधन्वा च समागच्छत्प्राह्लादिं केशिनीं तथा।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ॥ १३ ॥

तब विरोचन कहताहुआ हे भद्रे ! मैं तिसी प्रकार करूंगा जिस प्रकार कि हे भीरु ! मुझसे कहतीहै। सुधन्वाको और मुझे दोनोंको इकट्ठा हुआ तू प्रातः काल देखैगी ॥ ११ ॥ विदुरजी राजा धृतराष्ट्रसे कहते हुए कि हे राजसत्तम ! रात्रिके व्यतीत हो जानेपर सूर्यमण्डल उदयको प्राप्तहुए सतैं सुधन्वा उसी देशको आकर प्राप्तहुए जहां कि हे विभो ! केशिनीसहित विरोचन स्थित था ॥ १२ ॥ वह सुधन्वा ब्राह्मण प्रह्लादके पुत्र विरोचन और केशिनीके प्रति आवतेहुए

सुधन्वोवाच ।

अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्लादे ते वरासनम् ।
एकत्वमुपसम्पन्नौ न त्वासेऽहं त्वया सह ॥ १४ ॥

विरोचन उवाच ।

तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाप्यथवा बृसी ।
सुधन्वन्न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥ १५ ॥

सुधन्वोवाच ।

पितापुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्रियावपि ।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम् ॥ १६ ॥

हे भरतर्षभ ! तब उस आयेहुए ब्राह्मणको देखकर केशिनी खडी हो उस ब्राह्मणके लिये आसन फिर पाद्य और अर्घ्य देती हुई ॥ १३॥ उस समय सुधन्वा समीपमें बैठेहुए विरोचनसे कहनेलगे हे प्रह्लादके पुत्र ! तुम्हारे सुवर्णमय श्रेष्ठ आसनको हम केवल चरणोंसे स्पर्श ही करसकते हैं पर एकताको प्राप्तहुए तुम्हारे साथ बैठ नहीं सकतेहैं॥ १४ ॥तब इतना वाक्य सुनकर विरोचन सुधन्वासे कहने लगे हे सुधन्वन् ! फलक नाम काष्ठका पीढा वा कूर्च वा बृसी नाम कुशका आसन तुम्हारे योग्य होसकता है तुम हमारे साथ बराबर बैठनेको नहीं योग्य हो ॥ १५ ॥ तब सुधन्वा

पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः ।
बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किंचन बुद्ध्यसे ॥ १७॥

विरोचन उवाच ।

हिरण्यं च गवाश्वं च यद्वित्तमसुरेषु नः ।
सुधन्वन्विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १८ ॥

सुधन्वोवाच ।

हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन ।
प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १९ ॥

बोले हे विरोचन! पितापुत्र मिलकर एक जगह बैठसकते हैं और दो ब्राह्मण और दो क्षत्रिय और दो वृद्ध वैश्य और दो शूद्र भी मिलकर एक जगह बैठ सकतेहैं परन्तु अन्यजातीय दो परस्पर नहीं बैठ सकतेहैं॥ १६॥आसनपर बैठेहुए मुझको तुम्हारे पिता प्रह्लादजी नीचे बैठकर सेवा कियाकरतेहैं तुम बालक हो घरमें सुखपूर्वक बढे हो अभी सत् असत् कुछ भी नहीं जानते हो ॥ १७ ॥ तब सुधन्वासे विरोचन कहतेहुए ॥ हे सुधन्वन्! सुवर्ण और गौ घोडा और जो धन हम दैत्योंपर है उसके हारनेका पण किये जानेपर हम तुम उनसे प्रश्न पूछे जो कि हमारे तुम्हारे विवादको जानतेहैं ॥ १८ ॥ तब सुधन्वा बोले, हे विरोचन! सुवर्ण और गौ घोडा सब तुम्हाराही

विरोचन उवाच ।

आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥ २० ॥

सुधन्वोवाच ।

पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्लादो नानृतं वदेत् ॥ २१ ॥

विदुर उवाच ।

एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा ।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्लादो यत्र तिष्ठति ॥ २२ ॥

रहो हम तुम दोनों प्राणोंके हारनेका पण करके उनसे प्रश्न पूछेंगे जो कि हमारे तुम्हारे विवादको जानतेहैं ॥ १९ ॥ तब विरोचन कहतेहुए । प्राणोंके हारनेका पण कियेजानेपर हम तुम दोनों प्रश्न पूछनेको कहां चलैंगे मैं देवता और मनुष्योंके विषै तो कदाचित् भी नहीं स्थित होऊँगा ॥ २० ॥ तब सुधन्वा कहतेहुए हे विरोचन! प्राणोंके हारनेका पण कियेजानेपर हम तुम दोनों तुम्हारे पिताके प्रति चलेंगे क्योंकि वह तुम्हारे पिता प्रह्लादजी पुत्रके भी कारण झूठ नहीं कहसकते हैं ॥२१॥विदुरजी कहतेहैं कि इस प्रकार परस्पर किया है

प्रह्लाद उवाच ।

इमौ तौ संप्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह ।
आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥ २३ ॥
किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह ।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना ॥ २४ ॥

विरोचन उवाच ।

न मे सुधन्वना सख्यं प्राणयोर्विपणावहे ।
प्रह्लाद तत्त्वं पृच्छामि मा प्रश्नमनृतं वदेः ॥ २५ ॥

पण जिन्होंने ऐसे क्रोधितहुए विरोचन और सुधन्वा उसीसमय तहां जातेहुए जहां कि प्रह्लादजी स्थित थे ॥२२॥ उनको देखि प्रह्लादजी कहतेहुए दो सर्पोंके समान क्रोधित हुए एकमार्गवाले यह वह दोनो यहां आयेहुए दीखते हैं जिन्होंने कदापि एकजगह गमन नहीं किया॥२३॥ तुम दोनों इस प्रकार कैसे विचरते हो तुम दोनों तौ एकसाथ मिलकर पहिले कभी नहीं विचरे थे. हे विरोचन ! तुझसे मैं यह पूछता हौं कि क्या तुम्हारी सुधन्वाके साथ मित्रताहै ? ॥ २४ ॥ तब विरोचन कहनेलगा मेरी सुधन्वाके साथ कुछ भी मित्रता नहीं है हम दोनों

प्रह्लाद उवाच ।

उदकं मधुपर्कं वाप्यानयन्तु सुधन्वने ।
ब्रह्मन्नभ्यर्चनीयोऽसि श्वेता गौः पीवरी कृता ॥ २६ ॥

सुधन्वोवाच ।

उदकं मधुपर्कं च पथिष्वेवार्पितं मम ।
प्रह्लाद त्वं तु मे तथ्यं प्रश्नं प्रब्रूहि पृच्छतः ।
किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांस उताहोस्विद्विरोचनः ॥२७॥

प्रह्लाद उवाच ।

पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः ।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत् ॥ २८ ॥

प्राणोंके हारनेका पण कर रहेहैं हे प्रह्लाद ! मैं तुमसे तत्त्व पूछता हौं मुझसे आप झूंठ प्रश्न न कहिये॥२५॥ तब प्रह्लादजी बोले तुम सब सेवकगण सुधन्वाके लिये जल और मधुपर्क ल्याइये, हे ब्रह्मन् ! तुम हमारे पूजनीयहो मैंने तुम्हारे ही अर्थ श्वेत गौ पुष्ट की है ॥२६॥ तब सुधन्वा कहतेहुए जल और मधुपर्क तो मेरा मार्गमेंही अर्पण होगयाहै अर्थात् छूटगयाहै हे प्रह्लाद!अब मुझ पूछनेवालेसे सत्य प्रश्न कहिये मैं पूछता हौं। क्या ब्राह्मण श्रेष्ठहैं, अथवा विरोचन श्रेष्ठहै? ॥२७॥ तब प्रह्लादजी बोले

सुधन्वोवाच।

गां प्रदद्यास्त्वौरसाय यद्वान्यत्स्यात्प्रियं धनम्।
द्वयोर्विवदतोस्तथ्यं वाच्यं च मतिमंस्त्वया ॥ २९ ॥

प्रह्लाद उवाच।

अथ यो नैव प्रब्रूयाः सत्यं वा यदि वानृतम्।
एतत्सुधन्वन्पृच्छामि दुर्विवक्ता स्म किं वसेत्॥ ३० ॥

सुधन्वोवाच।

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः।
यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत् ॥ ३१ ॥

हे ब्राह्मण ! मेरा एक ही पुत्र है और तुम साक्षात् यहां आकर स्थित हुए हौ फिर कहिये तिन झगडनेवाले तुम दोनोंका प्रश्न मेरे सदृश जन कैसे कहसकता है ॥ २८॥ तब सुधन्वा प्रह्लादजीसे कहतेहुए हे श्रेष्ठबुद्धिवाले ! गो और जो अन्य प्रियधन हो वह अपने पुत्रको दीजिये इस समय तो झगडनेवाले हम दोनोंका प्रश्न तुमको सत्य कहना चाहिये ॥ २९ ॥ तब प्रह्लादजी कहतेहुए हे सुधन्वन् ! मैं तुमसे यह पूंछताहौं कि जो पूंछनेवालेमें सत्य अथवा झूंठ कुछ भी न कहै वह अन्यायवक्ता किस दुःखको प्राप्त होताहै ॥ ३० ॥ तब सुधन्वा कहते

नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारे बुभुक्षितः ।
अमित्रान्भूयसः पश्येद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ३२ ॥
पंच पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ३३ ॥

हुए अधिविन्ना अर्थात् सपत्नीके साथ पतिके गृहमें रहनेवाली स्त्री जिस रात्रिको वसती है और द्यूतकर्ममें पराजितहुआ जिस रात्रिको वसताहै और बोझसे तपायमानहुए अंगोंवाला जिस रात्रिको वसता है उसी रात्रिको अन्यायवक्ता वसता है. भाव यह है कि जिस दुःखको यह प्राप्त होतेहैं उसीके समान दुःखको अन्यायवक्ता प्राप्त होताहै॥ ३१॥ वह नगरमें क्षुधार्त होकर रुकाहुआ दरवाजेके बाहिर बहुतसे शत्रुओंको देखताहै जो कि साक्षी होकर झूंठ बोलताहै भाव यह है कि झूंठ बोलनेवाला साक्षी उस दुःखको पाताहै जिस दुःखका कि क्षुधार्त होकर शत्रुओंके साथ घिराहुआ प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥ पशुमात्रके अर्थ झूंठ कहेजानेपर नर पञ्चपुरुषोंको नाश करताहै और गौके अर्थ झूंठ कहेजानेपर नर दश पुरुषोंको नाश करताहै और घोडाओंके अर्थ झूंठ कहेजानेपर नर सौ पुरुषोंको नाश करताहै. और पुरुषके अर्थ झूंठ कहेजानेपर नर हजार पुरुषोंको नाश करताहै ॥ ३३ ॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ॥ ३४ ॥

प्रह्लाद उवाच ।

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन ।
मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात्त्वं तेन वै जितः ॥ ३५ ॥
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ।
सुधन्वन्पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम् ॥ ३६ ॥

सुधन्वोवाच ।

यद्धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः ।

सुवर्णके अर्थ झूंठ कहताहुआ नर उत्पन्नहुए तथा अगारी होनेवालोंको नाश करता है और पृथ्वीके अर्थ झूंठ कहे जानेपर सबको नाश करताहै । इस कारण आप पृथिवी तुल्य स्त्रीके अर्थ झूंठ मत कहियो ॥ ३४ ॥ तब प्रह्लादजी बोले हे विरोचन ! मुझसे तौ श्रेष्ठ सुधन्वाके पिता अंगिरा है और तुमसे श्रेष्ठ सुधन्वा है और इनकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है तिससे तुम इन सुधन्वाने जीतलिये ॥ ३५ ॥ हे विरोचन ! अब यह सुधन्वा तुम्हारे प्राणोंके स्वामी हैं चाहे छोडैं चाहे न छोडैं तब इतना विरोचनसे कह सुधन्वासे प्रह्लादजी प्रार्थना करने लगे—हे सुधन्वन् ! तुम कर अर्पण कियेहुए विरोचनको फिर मैं लेना चाहता हूं ॥ ३६ ॥ उस समय सुधन्वा प्रह्लादजीसे कहनेलगे

पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात्प्रह्लाद दुर्लभम् ॥ ३७ ॥
एष प्रह्लाद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात्कुमार्याः सन्निधौ मम ॥ ३८ ॥

विदुर उवाच ।

तस्माद्राजेन्द्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि ।
मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन् ॥ ३९ ॥
न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यन्तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम् ॥ ४० ॥

हे प्रह्लाद ! जो कि, तुम धर्मको ही वरतेहुए और कामसे झूंठ नहीं कहतेहुए तिस कारणसे मैं तुम्हारे लिये फिर दुर्लभ पुत्र दिये देताहूं ॥ ३७ ॥ हे प्रह्लाद ! मुझकर दियाहुआ यह तुम्हारा ही पुत्र विरोचन मेरे समीपसे कुमारी केशिनीको वरनेके लिये पादप्रक्षालन करो हम नहीं वरना चाहतेहैं ॥ ३८ ॥ विदुरजी राजा धृतराष्ट्रसे कहतेहैं कि, तिससे हे राजेन्द्र ! पृथिवीके अर्थ झूंठ कहनेको तुम योग्य नहीं हौ पुत्रोंके अर्थ सत्य न कहतेहुए तुम पुत्रमंत्रियों सहित नाशको मत प्राप्त होओ ॥ ३९ ॥ जिस प्रकार कि दण्ड लेकर पशुपाल पशुओंकी रक्षा करते हैं तिस प्रकार देवता दंड लेकर मनुष्योंकी न रक्षा करतेहैं

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिध्यन्ते नात्र संशयः ॥४१॥

नैनं छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुंता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ ४२॥

मद्यपानं कलहं पूगवैरं
भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम् ।

किन्तु जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसको बुद्धिकर युक्त करदेते हैं ॥४०॥ इस कारण जिस २ प्रकार पुरुष कल्याणमें मन करता है तिसी २ प्रकार उसके समस्त अर्थ सिद्ध होते हैं इसमें संशय नहीं है ॥ ४१ ॥ मायाकरके वर्त्तमानहुए मायावीजनको वेद कष्टसे नहीं तारसकते हैं किन्तु उसको अन्तकालके विषै त्यागदेतेहैं जिस प्रकार जमेहुए पंखवाले पक्षी नीड नाम पक्षिगृहको त्यागदेते हैं ॥ ४२ ॥ मदिराका पान और कलह (लडाई) और बहुतोंसे वैरभाव और पति-स्त्रीका परस्पर वियोग और जातिसे पृथक् होना और राजासे वैर और स्त्रीपुरुषका विवाद और जो कि अतिदुष्ट मार्ग है यह सब त्यागने

राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं
वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः ॥ ४३ ॥
सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं
शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च ।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च
नैतान्साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त ॥ ४४ ॥
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ।
एतानि चत्वार्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छंत्ययथाकृतानि ॥ ४५ ॥

योग्य है ऐसा पूर्वाचार्य्य कहते हैं ॥ ४३ ॥ सामुद्रिक नाम हस्तरेखादिकी परीक्षा करनेवाला और वणिक और जो कि पहिले चौर हो और शलाकधूर्त्त अर्थात् दूसरोंका ठगनेवाला और चिकित्साकरनेवाला और शत्रु और मित्र और कुशीलव अर्थात निन्दितशील रखनेवाला इन सातोंको कदाचित् भी साक्ष्य नाम गवाहीमें नहीं नियुक्त करै ॥ ४४ ॥ मानपूर्वक अग्निहोत्र और मानपूर्वक मौन और मानपूर्वक अध्ययन और मानपूर्वक यज्ञ यह चारों अभय करनेवाले हैं परन्तु

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
पर्वकारश्च सूचो च मित्रध्रुक्पारदारिकः ॥ ४६ ॥
भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात्पानपो द्विजः ।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः॥ ४७ ॥
सुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि ।
रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात्सर्वे ब्रह्महाभिः समाः ॥ ४८॥

यथावत् नहीं कियेहुए भय देतेहैं ॥ ४५ ॥ स्थानको जलानेवाला और विष देनेवाला और कुंडाशी अर्थात् भगसे जीविका करनेवाला और सोम बेचनेवाला और अस्त्र बनानेवाला और चुगल और मित्रसे वैर करनेवाला और परस्त्रियोंसे गमन करनेवाला ॥ ४६ ॥ और गर्भ गिरानेवाला और गुरुकी शय्यापर स्थितहोनेवाला और जो कि मदिरा पीनेवाला ब्राह्मण है और अतितीक्ष्ण और काक अर्थात् दुःखितको दुःख करनेवाला और नास्तिक तथा वेदनिन्दक ॥ ४७ ॥ और सुवप्रग्रहण अर्थात् राजाके दियेहुए अधिकारबलसे प्रजासे अन्याय कर धान्यादिक ग्रहण करनेवाला और व्रात्य नाम पतित वा जिसका उपनयन नहीं हुआ हो और कीनाश नाम क्रूर और 'रक्षाकीजिये' इस प्रकार प्राणियों करके कहाहुआ जो समर्थ होकर उन प्राणियोंकी हिंसा करै यह समस्त ब्रह्महत्या करनेवालोंके समान होतेहैं ॥ ४८ ॥

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं
वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः
कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥ ४९ ॥
जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥ ५० ॥
श्रीर्मङ्गलात्प्रभवति प्रागल्भ्यात्संप्रवर्धते ।

तृणके अङ्गारसे सुवर्ण पहचाना जाता है और आचारसे धर्म पहचाना जाताहै और व्यवहारकर साधु जन पहचाना जाताहै और भय होनेपर शूरवीर पहचाना जाताहै और अर्थ कृच्छ्र अर्थात् धनकेकष्टमें धीर पहचाना जाता है और कष्ट और आपदाओंमें मित्र तथा शत्रु पहचाने जातेहैं ॥ ४९ ॥ जरा नाम वृद्धावस्था रूपको हरलेतीहै और आशा धीरजको हरलेती है और मृत्यु प्राणोंको हरलेता है और असूया (निन्दा) धर्म-चर्य्याको हरलेती है और क्रोध लक्ष्मीको हरलेताहै और अनार्यसेवा अर्थात् असाधुओंकी सेवा शीलको हरलेती है और काम लज्जाको हरलेताहै और अभिमान सबको हरलेता है ॥ ५० ॥ लक्ष्मी शुभकर्मसे

दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात्प्रतितिष्ठति ॥ ५१ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ५२ ॥

एतान्गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो विभाति ॥ ५३ ॥

उत्पन्न होवैहै और प्रगल्भतासे बढतीहै और चतुरतासे अपनी जडको स्थित करतीहै और संयम अर्थात् इन्द्रियोंके वशमें रखनेसे स्थित होजातीहै॥५१॥आठ गुण पुरुषको प्रकाशमान करतेहैं-एक तौ बुद्धि दूसरी कुलीनता तीसरी इन्द्रियोंका दमनकरना चौथा शास्त्राभ्यास पांचवां पराक्रम छठा बहुत बोलना सातवां यथाशक्ति दान आठवीं कृतज्ञता अर्थात् दूसरेके उपकारको जानना ॥५२॥ हे तात!इन बडे प्रभाववाले आठोंको एक गुणही बलात्कार आश्रयकर लेता है जो कि प्रभु होकर मनुष्यका सत्काररूप गुण सब गुणोंके मध्यमें विशेष प्रकाशमान होताहै॥५३॥

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके
स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।
चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भि-
श्चत्वारि चैषामनुयान्ति सन्ति ॥ ५४ ॥
यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च
चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं
चत्वार्येतान्यनुयान्ति सन्तः ॥ ५५ ॥
इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ५६ ॥

हे नृप ! यह अगारी कहेजानेवाले आठ गुण मनुष्यलोकमें स्वर्गलोकके दृष्टान्तहैं इनमें चार तो सज्जनोंकर सदैव सम्बद्ध रहतेहैं और इनमें चार ऐसेहैं कि जिनके पिछारी सज्जन चलतेहैं ॥ ५४ ॥ यज्ञ और दान और अध्ययन और तप यह चार ऐसेहैं कि जो सज्जनोंकर सदैव सम्बद्ध रहते हैं. और दम अर्थात् इन्द्रियोंका दमन करना और सत्य और आर्जव अर्थात् विषमभाव न होना और आनृशंस्य अर्थात् अक्रूरता यह चार ऐसेहैं कि जिनके पिछारी स्वयं सज्जन चलतेहैं ॥ ५५ ॥ इज्या नाम यज्ञ करना अध्ययन नाम शास्त्र पढना और दान

तत्र पूर्वंचतुर्वर्गो दंभार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥ ५७ ॥

न सा सभा यत्र न सान्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥ ५८ ॥

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥ ५९ ॥

देना और तप अर्थात् तपस्या करना और सत्य और सहनशील होना और दया और लोभका न होना यह धर्मका आठ प्रकारका मार्ग पूर्वाचार्योंने कहाहै ॥ ५६ ॥ तिस आठ प्रकारके धर्मके मार्गमें पूर्वके इज्या अध्ययन दान तप यह चार दम्भके अर्थ अर्थात् पाखण्डके लिये भी सेवन कियेजाते हैं परन्तु पिछारके सत्य क्षमा दया अलोभ यह चार दुरात्माओंके विषै नहीं स्थित रहतेहैं किन्तु सज्जनोंके हीं विषै स्थित रहतेहैं ॥ ५७ ॥ वह सभा नहीं है जिसमें कि वृद्धजन नहीं होवैं और वह वृद्ध नहीं है जो धर्मको न कहतेहों और वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न होवै और वह सत्य भी नहीं है जो छलसे युक्त हो ॥ ५८ ॥ सत्य और रूप और शास्त्राभ्यास और विद्या और

पापं कुर्वन्पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम् ।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यंतमश्नुते ॥ ६० ॥
तस्मात्पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६१ ॥
नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनःपुनः ॥ ६२ ॥
वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यस्थानं स्म गच्छति ।
तस्मात्पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ॥ ६३ ॥

कुलीनता और शील और बल और धन और शूरता और विचित्र भाषण यह दश स्वर्गकी योनी हैं ॥ ५९ ॥ पाप करताहुआ पुरुष पापकीर्ति होकर पापफलको ही भोगताहै और पुण्य करताहुआ पुरुष पुण्यकीर्ति होकर अत्यन्त पुण्यफलको भोगताहै ॥ ६० ॥ तिससे प्रशंसा कियेहुए व्रतवाला होकर पुरुष पापको कदाचित् भी न करै क्योंकि बारंबार कियाहुआ पाप बुद्धिको नाश करदेताहै ॥ ६१ ॥ जिसकी कि बुद्धि नष्ट होजावै है वह नर सदा ही पापका आरम्भ करता रहताहै और बारंबार कियाहुआ पुण्य बुद्धिको बढाताहै ॥ ६२ ॥ जिसकी बुद्धि बढजातीहै वह पुरुष सदा ही पुण्यको आरम्भ करताहै

असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः ।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात्पापमाचरन् ॥ ६४ ॥
अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन्सदा ।
न कृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ॥ ६५ ॥
प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः ।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ॥ ६६ ॥

पुण्य करताहुआ पुण्यकीर्ति होकर पुण्यस्थानको जाताहै तिससे पुरुष सावधान होकर पुण्यका ही सेवन करै ॥ ६३ ॥ जो कि दूसरोंके गुणोंमें दोषारोपण करताहै और जो कि दंदशूक अर्थात् दूसरोंके मर्म स्थलोंका भेदन करताहै और जो कि अप्रिय बोलताहै और जो कि वैर करनेवाला है और जो कि शठ है वह पापका सेवन करनेवाला थोडे ही कालमें शीघ्र ही महत् कष्टको प्राप्त होताहै ॥ ६४ ॥ और जो कि दूसरोंकी निन्दा नहीं करताहै और समस्तकार्योंमें जिसने यथोचित बुद्धि की है वह सदा ही शुभकर्म करताहुआ महत्कष्टको नहीं प्राप्त होताहै. और सब जगह प्रकाशित रहताहै ॥ ६५ ॥ जो कि पंडितजनोंसे बुद्धिको प्राप्त करताहै वह पंडित है और जो कि पंडित है वह धर्म और अर्थको प्राप्त होकर सुख बढानेको समर्थ है ॥ ६६ ॥

दिवसेनैव तत्कुर्याद्येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत्कुर्याद्येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥ ६७ ॥
पूर्वे वयसि तत्कुर्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत्कुर्याद्येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥ ६८ ॥
जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम् ।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥ ६९ ॥
धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते ।
असंवृतं तद्भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ॥ ७० ॥

दिवस भरमें वह कार्य करै जिससे रात्रिमें सुखपूर्वक बसै और आठ महीने भरमें वह कार्य करै जिससे वर्षाके चार महीना सुखपूर्वक बसै ॥ ६७ ॥ और पूर्व अवस्थामें वह कार्य करै जिससे वृद्ध होकर सुखपूर्वक बसै. और जीवनपर्यन्त वह कर्म करै जिससे मरकर परलोकमें सुखपूर्वक बसै ॥ ६८ ॥ संसारमें जो कि अन्न भोजन करनेपर पचजाताहै उसकी प्रशंसा करते हैं. और जिसका यौवन व्यतीत होजाताहै उस स्त्रीकी बुढापेमें प्रशंसा करतेहैं और जिसने संग्राम जीतलिया उस शूरकी प्रशंसा करते हैं। और गतपार अर्थात् जिसने ईश्वरतत्त्व प्राप्त करलिया है उस तपस्वीकी प्रशंसा करते हैं ॥ ६९ ॥ अधर्मसे प्राप्तकिये धनसे जो छिद्र बन्द किया

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ ७१ ॥
ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम् ।
प्रभावो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥ ७२ ॥
द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी ।
क्षत्रियः शीलभाग्राजंश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७३ ॥
सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वंति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ७४ ॥

जाता है वह विना ही मुँदाहुआ रहताहै किन्तु उससे और भी अधिक फटजाता है ॥ ७० ॥ आत्मवान् नाम चित्तके जीतनेवालोंको शिक्षा करनेवाला गुरु हैं और दुरात्माओंको शिक्षा करनेवाला राजा है और गुप्त पापवालोंको दण्ड देनेवाले सूर्यके पुत्र यमराज हैं ॥ ७१ ॥ ऋषियोंका और नदियोंका और महात्माजनोंके कुलोंका और स्त्रियोंके दुश्चरितका सामर्थ्य अनन्त होनेसे जाननेको समर्थ नहीं होताहै॥७२॥ हे राजन् ! द्विजातियोंकी पूजामें प्रीति रखनेवाला और दान करनेवाला और ज्ञातियोंमें विषमता न रखनेवाला ऐसा शीलवान् क्षत्रिय बहुत कालतक पृथ्वीको पालताहै॥७३॥सुवर्ण ही है फूल जिसके ऐसी पृथ्वीके सुवर्णरूप फूलोंको तीन पुरुष संचय करलेते हैं। एक तो शूरवीर, दूसरा विद्यावान्, तीसरा वह जो कि सेवा करना जानताहै ॥७४ ॥

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ ७५ ॥
दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा ।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ ७६ ॥
सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु पाण्डवा भरतर्षभ ।
पितृवत्त्वयि वर्तन्ते तेषु वर्तस्व पुत्रवत् ॥ ७७ ॥
इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये पंचत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥ [३]

संसारमें कर्म चार प्रकारके हैं तिनमें जो कि बुद्धि बलसे सिद्ध कियेजाते हैं वह श्रेष्ठ है और जो कि बाहुबलसे सिद्धकिये जाते हैं वह मध्यम हैं और जो कि कपटादिसे सिद्ध कियेजाते हैं वह अधम हैं और जों कि भार नाम बलात्कारसे सिद्ध किये जाते हैं वह अति अधम हैं ॥७५॥ दुर्योधन और शकुनि और मूढ दुःशासन और कर्ण इनके विषैं ऐश्वर्य रखकर अर्थात् इनके आधीन होकर तुम कैसे ऐश्वर्यको चाहते हौ॥७६॥ हे भरतर्षभ ! पांडव सर्वगुणोंसे युक्त हैं और तुम्हारेको पिताके समान मानते हैं तुमभी उनको पुत्रकी समान मानिये ॥७७॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये श्रीपाठकवंशावतंसपंडितमंगलसेनात्मजकाशिरामविरचित भाषातिलके पंचत्रिंशोध्यायः॥३५॥ [१]

विदुर उवाच ।

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम् ॥ १ ॥
चरन्तं हंसरूपेण महर्षिं शंसितव्रतम् ।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छन्त वै पुरा ॥ २ ॥

साध्या ऊचुः ।

साध्या देवा वयमेते महर्षे
दृष्ट्वा भवन्तं न शक्नुमोऽनुमातुम् ।
श्रुतेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः
काव्यां वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम् ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर फिर विदुरजी महाराज धृतराष्ट्रसे कहतेहुए–हे राजन्! यहाँ एक पुरातन इतिहासको कहते हैं जिसमें आत्रेय और साध्योंका संवाद है यह हमने सुनाहै ॥ १ ॥ परमहंसरूपसे विचरने वाले प्रशंसितव्रत बडे पंडित ऐसे महर्षिसे कभी पहिले साध्यदेवता पूछतेहुए ॥ २ ॥ साध्यदेव कहतेहैं कि, हे महर्षे ! यह आपके प्रत्यक्ष खडेहुए हम साध्यदेबता हैं । आपको देखकर आपके जाननेको नहीं समर्थ हैं पर शास्त्रबलसे तुम धीर और बुद्धिमान् विदित होतेहो इस

हंस उवाच ।

एतत्कार्यममराः संश्रुतं मे
धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः ।
ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं
प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ॥ ४ ॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विंदति ॥ ५ ॥

कारण विद्वानोंके योग्य उदारवाणी हमारे प्रति कहनेको आप योग्य हैं ॥ ३ ॥ तब इतना वचन सुन परमहंस कहने लगे । हे देवताओ ! यह करना चाहिये जो हमने सुन रक्खा है. धृति नाम धारणाशक्ति और शम नाम शांति और सत्यधर्मका सेवन और हृदयकी देहाभिमानरूप समस्त चिज्जडग्रंथिको दूर कर शरीरके सहित प्रिय अप्रिय इन दोनोंको भी दूर करदेवै । भाव यह है कि जिस प्रकार शरीर असत्य है उसी प्रकार प्रिय और अप्रियको भी असत्य जानै ॥ ४ ॥ किसी कर आप गाली दियाहुआ भी किसीको नहीं गाली देवै । क्योंकि सहनेवालेका क्रोध ही गाली देनेवालोंको जलादेता है और उसका

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य
मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी।
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो
रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत ॥ ६ ॥
मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम्।
तस्माद्वाचमुषतीं रूक्षरूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥ ७ ॥
अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।

पुण्य उस सहनेवालेको मिलजाता है ॥ ५ ॥ दूसरेको बुरा करनेवाला न होवै और न दूसरेका अवमान करनेवाला होवै और न मित्रसे वैर करनेवाला होवै और न नीचकी सेवाकरनेवाला होवै और न अभिमान करनेवाला होवै और न आचारसे भ्रष्ट होवै और रूखी कठोर वाणीको संभाषण करनेमें त्यागदेवै ॥ ६ ॥ रूखे कठोर वचन पुरुषोंके मर्मस्थल और हड्डी और हृदय तथा प्राणोंको भस्म करदेतेहैं। तिससे दूसरेके जलानेवाले घोररूप रूखे वचनोंको धर्मात्मा सदा ही त्यागदेवे ॥ ७ ॥ जो कि दूसरोंके मर्मस्थलोंको व्यथित करताहै और

विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम् ॥ ८ ॥
परश्चेदेनमभिविध्येत बाणै-
र्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः ।
स विध्यमानोऽप्यति दह्यमानो
विद्यात्कविः सुकृतं मे दधाति ॥ ९ ॥
यदि सन्तं सेवते यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ १० ॥

जो कि स्वभावसे अति कठोर है और जिसकी वाणी बोलनेमें रूखीहै और जो कि वाणीरूप कांटोंसे मनुष्योंको व्यथित करता है उसको मनुष्योंके मध्य अतीव लक्ष्मीवर्जित जानै । कैसा है वह कि, मुखमें बन्धीहुई निर्ऋति अर्थात् दरिद्रताको धारण कियेहुए हैं ॥ ८ ॥ यदि दूसरा शत्रु अपने इस आत्माको अतितीखे अग्नि सूर्यके समान प्रकाशमान बाणोंसे भी ताडै तबभी वह ताडाहुआ और अग्निसे जलाया हुआ भी विद्वान् यह जाने कि यह हमारे पुण्यकोही पुष्ट करता है ॥ ९ ॥ या तौ जो सज्जनकी सेवा करै वा असज्जनकी सेवा करै वा

अतिवादं न प्रवदेन्न वादये-
द्योनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत्।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै
तस्मै देवाः स्पृहन्त्यागताय ॥ ११ ॥
अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद्व्याहृतं तद्द्वितीयम्।
प्रियं वदेद्व्याहृतं तत्तृतीयं
धर्म्यं वदेद्व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ १२ ॥

तपस्वीकी सेवा करै वा चौरकी सेवा करै वह उन्हींके वशको प्राप्त होजाताहै जिस प्रकार वस्त्र रंगके वशको प्राप्त होजाताहै. भाव यह है कि जिस प्रकार कि श्वेत वस्त्र जिस रंगमें रंगाजाय वह उसी रंगको धारण करलेताहै तिसी प्रकार विद्वान् भी जैसे कि सेवा करताहै वैसा ही वह होजाता है ॥ १० ॥ दूसरोंकर कहाहुआ भी जो कि कठोर वचन स्वयं नहीं कहताहै न दूसरोंसे वाद कराताहै और दूसरोंकर ताडाहुआ भी नहीं मारताहै और न दूसरोंसे मरवाताहै और जो पाप करनेवालेको भी नहीं मारना चाहताहै उस अपने स्थानमें आयेहुएकी देवता स्वयं पूजा करतेहैं ॥ ११ ॥ भाषण करनेसे मौन

याद्दशैः सन्निविशते याद्दशांश्चोपसेवते ।
याद्दगिच्छेच्च भवितुं ताद्दग्भवति पूरुषः ॥ १३ ॥
यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ १४ ॥

न जीयते नानु जिगीषतेन्या-
न्वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च ।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो
न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥ १५ ॥

रहना श्रेष्ठ है ऐसा पूर्वाचार्य कहतेहैं और वचन कहै पर सत्य कहै वह द्वितीय है अर्थात् माने रहनेसे सत्यबोलना श्रेष्ठ है और वचन कहै पर सत्य और प्रिय कहै वह तृतीय है अर्थात् केवल सत्यबोलनेसे सत्य और प्रिय बोलना श्रेष्ठ है और वचन कहै पर सत्य और प्रिय तथा धर्मयुक्त कहै वह चतुर्थहै अर्थात् सत्य और प्रियबोलनेसे सत्य प्रिय धर्म युक्त बोलना श्रेष्ठहै ॥ १२ ॥ जैसे मनुष्योंके साथ बैठता उठता है और जैसोंकी सेवा करताहै और जैसा होना चाहता है वह पुरुष वैसा ही होजाताहै ॥ १३ ॥ जहां २ से निवृत्त होजाताहै तहां २ से ही छूटता चलाजाताहै इसी प्रकार सब जगहसे निवृत्त होजानेसे पुरुष थोडा भी दुःख नहीं जानताहै ॥ १४ ॥ न तो आप किसीसे जीताजाताहै न आप किसीके जीतनेकी इच्छा

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ॥ १६ ॥
नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च।
रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः ॥ १७ ॥

दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो
नावर्तते मन्युवशात्कृतघ्नः।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा
कलाश्चैता अधर्मस्येह पुंसः ॥ १८ ॥

करताहै. और न वैर करनेवाला है न किसीको मारनेवाला है. और निन्दा तथा प्रशंसा दोनोंमें जिसका स्वभाव समान रहताहै और न दुःख होनेपर सोच करताहै और न सुख होनेपर प्रसन्न होताहै यह महात्माओंका स्वभाव है ॥ १५ ॥ जो कि समस्तका कल्याण चाहताहै और किसीके अकल्याणमें मन नहीं करताहै और सत्य बोलता है और कोमलस्वभाव और इंद्रियजित् है वह उत्तम पुरुष है ॥ १६ ॥ जो कि अनर्थक नाम मिथ्याशब्दोंसे ही नहीं समझताहै किन्तु कर्मसे भी समझताहै और दूसरेके लिये प्रतिज्ञा करके देताहै और दूसरेके छिद्रको जानताहै वह मध्यम पुरुष है ॥ १७ ॥ घोषयात्रादिकोंमें दुःशासन ताडा भी गया था और बांधा भी गया था परन्तु

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः ।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ॥ १९ ॥
उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ॥
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद्भूतिनात्मनः ॥ २० ॥

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन
नित्योत्थानात्प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग्लभते प्रशंसां
न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥ २१ ॥

तब भी दुष्कर्मसे नहीं निवृत्त होताहै. और क्रोधके वशसे पांडवोंके किये उपकारको भी नाश करताहै. इससे दुरात्माजन किसीका भी मित्र नहीं होताहै इस संसारमें अधम पुरुषकी यह ही कला होवैहै अर्थात् यह ही पहचाने होतीहै ॥ १८ ॥ आत्मशंकित नाम विश्वास-हीन हुआ जो दूसरोंके लिये कल्याणकी नहीं श्रद्धा करताहै और मित्रजनोंको दूर करदेताहै वह अधम पुरुषहै ॥ १९ ॥ जो कि अपने कल्याणकी इच्छा करै वह उत्तम जनोंकी सेवा करै और प्राप्त समयपर मध्यमजनोंकी भी सेवा करलेवै परन्तु नीचजनोंकी सेवा न करै॥ २० ॥ असज्जन बलसे और नित्यके उद्यमसे और बुद्धिसे और पुरुषार्थसे धन तो पासकता है परन्तु प्रशंसा भलीप्रकार नहीं पासकता है,

धृतराष्ट्र उवाच ।

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा
धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं
भवन्ति वै कानि महाकुलानि ॥ २२ ॥

विदुर उवाच ।

तपो दमो ब्रह्म वित्तं वितानाः
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥ २३ ॥

और न महत्कुलमें उत्पन्नहुए सज्जनोंके आचारको पासकता है ॥२१॥ धृतराष्ट्रजी महाराज फिर विदुरजीसे बोले—हे विदुरजी ! धर्म अर्थ रहतेहैं नित्य जिनके विषै ऐसे बहुशास्त्रसम्पन्नहुए देवता भी जिन महाकुलोंकी पूजा करतेहैं, वह माहकुल कौन हैं ? तुमसे मैं यह प्रश्न पूँछता हूँ ॥ २२ ॥ तब विदुरजी बोले ! तप नाम समाधिमें स्थित रहना और दम नाम इंद्रियोंका वश करना और ब्रह्म वित्त नाम वेदाध्ययनाध्यापनादि और वितान नाम यज्ञकर्म और श्रेष्ठ विवाह और

येषां न वृत्तं व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम् ।
ये कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां
त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥ २४ ॥

अनिज्यया कुविवाहै र्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ २५ ॥
देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥

निरन्तर अन्नदान यह सात गुण जिनमें भलीप्रकार स्थितहुए रहते हैं वह महाकुल हैं ॥ २३ ॥ जिन्होंका आचार व्यथाको नहीं प्राप्त होताहै. और न जिन्होंके उत्पन्न करनेवाले पित्रादिक जिनसे व्यथाको प्राप्त होतेहैं. और जो सदा ही चित्तकी प्रसन्नतासे धर्मआचरण करतेहैं और जो कुलमें विशेषकीर्तिकी इच्छा करतेहैं और जिन्होंने झूंठ त्यागदियाहै वह महाकुल हैं ॥ २४ ॥ यज्ञके न करनेसे और निन्दित विवाहोंसे और वेदके तिरस्कार करनेसे और धर्मके उलंघनसे कुल अकुलताको प्राप्त होजातेहैं ॥ २५ ॥ देवताओंके धनके नाश करनेसे और ब्राह्मणोंके धन हरनेसे और ब्राह्मणोंके उलंघन करनेसे

ब्राह्मणानां परिभवात्परिवादाच्च भारत।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥
कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ २८ ॥
वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ २९ ॥
वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ ३० ॥

कुल अकुलताको प्राप्त होजातेहैं ॥ २६ ॥ हे भारत ! ब्राह्मणोंके तिरस्कार और निन्दासे और न्यास नाम धरोहरके हरलेनेसे कुल अकुलताको प्राप्त होजातेहैं ॥ २७ ॥ जो कुल कि आचारसे भ्रष्ट हैं वह यदि गाय बैल आदिक पशुओंसे और बहुतसे पुरुषोंसे तथा धनोंसे भी सम्पन्न हों तब भी कुलसंख्याको नहीं प्राप्त होतेहैं अर्थात् उन कुलोंकी कुलोमें गिनती नहीं होवैहैं ॥ २८ ॥ और जो कि कुल आचारसे सम्पन्न हैं वह यदि थोडे भी धनसे युक्त हों तब भी कुलसंख्याको प्राप्त होतेहैं और महत् कीर्त्तिको प्राप्त होजातेहैं ॥२९॥ आचारकी यत्नसे रक्षा करै न कि आचारको त्यागिकर धनकी,

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया ।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ ३१ ॥

मा नः कुले वैरकृत्कश्चिदस्तु
राजामात्यो मा परस्वापहारी ।
मित्रद्रोही नैष्कृतिकोऽनृती वा
पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ॥ ३२ ॥

यश्च नो ब्राह्मणान्हन्याद्यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत ।
न नःस समितिं गच्छेद्यश्च नो निर्वपेत्कृषिम् ॥ ३३ ॥

क्योंकि कभी धन आजाताहै और कभी चलाजाताहै जो कि धनसे तो सम्पन्नहै और आचारसे भ्रष्ट है वह ही मरेसे भी मराहुआ है ॥ ३० ॥ जो कि कुल आचारसे हीन हैं वह गाय बैल पशु घोडा और समृद्ध कृषिसे फिर नहीं प्रकट होतेहैं ॥ ३१ ॥ हमारे कुलमें कोई भी राजा और मन्त्री वैरका करनेवाला न होवै और हमारे कुलमें कोई भी दूसरोंके धनको हरनेवाला न होवै और हमारे कुलमें कोई भी मित्रका वैर करनेवाला न होवै और कपटी भी न होवै और झूंठ बोलनेवाला न होवै और पितृ देव और अतिथियोंसे पूर्व भोजन करनेवाला भी न होवै ॥ ३२ ॥ जो कि ब्राह्मणोंको मारे वह

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ३४ ॥
श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम् ॥
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम् ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै
शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः ।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति
महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः ॥ ३६ ॥

हमारे कुलमें न होवै और जो कि ब्राह्मणोंसे वैर करै वह हमारे कुलमें न होवै और जो कि युद्धको न जावै वह हमारे कुलमें न होवै और जो कि कृषीको त्याग देवै वह हमारे कुलमें न होवै ॥ ३३ ॥ तृण चटाई आदिक और पृथ्वी और जल और चौथी प्रिय और सत्य बाणी यह सज्जनोंके गृहोंमें कदाचित् भी नहीं पृथक् होते हैं ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! हे महाप्राज्ञ ! पुण्यकर्मवाले धर्मात्माओंके यह चारों परम श्रद्धाकर सत्कारको प्राप्तहुए सदैव प्रवृत्त रहतेहैं ॥ ३५ ॥ हे नृपते ! जिस प्रकार कि छोटासा भी रथ बोझके बहनेको समर्थ होताहै तिस प्रकार अन्य पृथिवीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्ष बोझके वहनेको नहीं

न तन्मित्रं यस्य कोपाद्विभेति
यद्वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम् ।
यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्वसीत
तद्वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥ ३७ ॥
यः कश्चिदप्यसंबद्धो मित्रभावेन वर्तते ।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत्परायणम् ॥ ३८ ॥
चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः ।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३९ ॥

समर्थ होते हैं इसी प्रकार योग्य महाकुलीन जन जिस प्रकार भारके सहनेवाले होते हैं तिस प्रकार अन्य मनुष्य भारके सहनेवाले नहीहोते है ॥ ३६ ॥ जिसके क्रोधसे डरता रहै वह मित्र नहीं है और जो कि शंकित चित्तसे सेवा किया जाता हो वह भी मित्र नहीं है और जिस मित्रके विषैं पिताके समान विश्वास करै वह मित्र है और अन्य संगममात्रके ही मित्र होतेहैं ॥ ३७ ॥ जो कि अपने सम्बन्धसे भी वाजत हो पर मित्रभावकर वर्तै वह ही बन्धु है और वह ही मित्र है और वह ही गति है और वह ही आश्रय है ॥ ३८ ॥ जिसका चित्त चञ्चल रहता है और जो कि मित्रकी सेवा करताहै और जिसकी

चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम् ।
अर्थाःसमभिवर्तंते हंसाःशुष्कं सरो यथा ॥ ४० ॥
अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः ।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ॥ ४१ ॥
सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥४२॥
अर्चयेदेव मित्राणि सति वाऽसति वा धने ।
नानर्थयन्प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम्॥४३॥

मन्द बुद्धि भी चञ्चल रहती है उसका मित्रसंग्रह अध्रुव अर्थात् निरर्थक है ॥ ३९ ॥ जिसका चित्त चलायमान रहताहै और जो दुरात्मा है और जो इंद्रियोंके वश चलता है उसके अर्थ चारोंतरफ रहते हैं स्पर्श नहीं करते हैं जिस प्रकार कि सूखें सरोबरके समीप हंस नहीं आकर प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥ जो कि अकस्मात् ही क्रोध करतेहैं और विना ही निमित्त प्रसन्न होजातेहैं यह असज्जनोंका स्वभाव है वह सदैव चञ्चल रहता है जिसप्रकार कि बादल चलायमान रहताहै ॥ ४१ ॥ जो कि सत्कार किये हुए तथा कृतार्थहुए जन मित्रोंके हितकेलिये नहीं होते हैं उन मरे हुए कृतघ्नोंको मांसखानेवाले गृध्रादिक भी नहीं खातेहैं ॥ ४२ ॥ धन होनेपर अथवा न होनेपर सब

सन्तापाद्भ्रश्यते रूपं सन्तापाद्भ्रश्यते बलम् ।
सन्तापाद्भ्रश्यते ज्ञानं सन्तापाद्व्याधिमृच्छति ॥ ४४ ॥
अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते ।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः ४५ ॥
पुनर्नरो म्रियते जायते च
पुनर्नरो हीयते वर्धते च ।
पुनर्नरो याचति याच्यते च
पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ॥ ४६ ॥

कालमें मित्रोंका सत्कार करै और लोभी न होकर मित्रोंके सार वा असारको न जानै भाव यह है कि लोभी होकर अपने कार्यकेवास्ते ही मित्रता न करे ॥४३॥ सन्ताप करनेसे रूप भ्रष्ट होजाताहै और संताप करनेसे बल भ्रष्ट होजाताहै और सन्ताप करनेसे ज्ञान भ्रष्ट होजाताहै और सन्ताप करनेसे व्याधिको प्राप्त होजाताहै॥४४॥ शोककरके सुखादि नहीं पाकर केवल शरीरमें ही संतप्त होताहै और उस शोक करनेसे शत्रुगण हर्षित होतेहैं इस कारण आप शोकमें मन न कीजिये॥४५॥ संसारमें कभी नर मरजाताहै और कभीफिर उत्पन्न होताहै और कभी नर संपदाओंसे हीन होजाताहै और कभी फिर संपदाओंकर वृद्धिको प्राप्त होजाताहै और कभी नर आप दूसरोंसे मांगताहै और कभी फिर आप दूसरोंकर याचना

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥ ४७ ॥
चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि
तेषां यद्यद्वर्धते यत्र यत्र।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य
छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ॥ ४८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच।

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥ ४९ ॥

कियाजाताहै और कभी नर आप दूसरोंको शोचताहै और कभी वह दूसरों कर शोचाजाताहै॥४६॥सुख और दुःख और लाभ और अलाभ और मरण और जीवन यह क्रमसे पुरुषमात्रको समय २ पर स्पर्श करते रहतेहैं। तिससे धीरजन न तौ प्रसन्न होवै और न शोक करै ॥४७॥ पांच ज्ञानेन्द्रिय और छठा मन यह है इन्द्रिय पुरुषके अतिचंचल हैं उनमें जो जो इंद्रिय जिस २ विषयमें वृद्धिको प्राप्त होता है उसी २ विषयसे उसकी बुद्धि टपक जातीहै जिस प्रकार कि छिद्रवाले जलके

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः ।
यत्तत्पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ॥ ५० ॥

विदुर उवाच ।

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामितेऽनघ ॥ ५१ ॥
बुद्धया भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत् ।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥ ५२ ॥

कलशसे सदा ही जल टपकजाताहै ॥ ४८ ॥ तब धृतराष्ट्र कहतेहुए हे विदुरजी ! अग्निके समान शरीरमें गुप्तसामर्थ्यवाले राजा युधिष्ठिर मैंने कपटसे सेवन करे हैं इस कारण मेरे मन्दपुत्रोंका युद्धसे नाश करदेंगे ॥ ४९ ॥ हे महामते ! यह समस्त चर अचर विश्व नित्य उद्विग्न रहताहै और यह मन भी नित्य उद्वेगयुक्त रहताहै जो पद उद्वेगयुक्त न होवै वह मुझसे कहिये ॥ ५० ॥ तब विदुरजी बोले । हे अनघ ! अर्थात् हे निष्पाप ! विद्या और तपस्याके विना और इंद्रियोंके रोकनेके विना और लोभके त्यागनेके विना तुम्हारी शान्तिको नहीं देखताहौं ॥ ५१ ॥ संसारमें जन विचारसे भयको दूर करदेताहै । और तपसे महत्त्वको प्राप्त होजाताहै । और गुरु-

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ॥ ५३ ॥
स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः ।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ॥ ५४ ॥

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते ।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥ ५५ ॥

जनोंकी सेवासे ज्ञानको प्राप्त होताहै । और योगसे शान्तिको प्राप्त होताहै ॥ ५२ ॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले जन दान तौ करतेहैं पर उस दानके पुण्य स्वर्गादिकी नहीं कांक्षा करतेहैं । और वेदका अध्ययनाध्यापन तौ करतेहैं पर उसके फलके आश्रय नहीं होते हैं किन्तु राग और द्वेषसे हीनहुए मनुष्योंका कल्याण करतेहुए इस संसारमें विचरतेहैं ॥ ५३ ॥ जो कि भलीप्रकार अध्ययन किया है और जो कि भलीप्रकार युद्ध किया है और जो कि भली प्रकार पुण्य किया है और जो कि भलीप्रकार कर्म किया है और जो कि भलीप्रकार तपस्या तपी है इन सबके अन्तमें उस कर्त्ताको सुख बढता है ॥ ५४ ॥ हे राजन् ! जातिसे भिन्नहुए जन सुन्दर बिछौनावाली शय्याओंपर

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥५६॥
न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं
न विद्यते किञ्चिदन्यद्विनाशात् ॥ ५७ ॥

सोतेहुए भी निद्राको कदाचित् नही प्राप्त होतेहैं, और न स्त्रियोंके विषै रतिको प्राप्त होतेहैं । और न मागध और न सूतोंकर स्तुति कियेहुए आनन्दको प्राप्त होतेहैं ॥ ५५ ॥ और जातिसे भिन्नहुए जन कदाचित् भी धर्म नहीं करसकते हैं और न जातिसे भिन्नहुए जन यहां सुख पासकते हैं । और न जातिसे भिन्नहुए जन गौरवको प्राप्त होतेहैं । और न जातिसे भिन्नहुए जन शान्तिको रोचतेहैं ॥ ५६ ॥ और न उन जातिसे भिन्नहुए जनोंको हितवाक्य अच्छा लगताहै और न उन जातिसे भिन्नहुए जनोंके योग नाम नहीं प्राप्तहुएका लाभ और क्षेम नाम प्राप्तहुएकी रक्षाकरना यह दोनों कल्पित होतेहैं ।

संपन्नं गोषु संभाव्यं संभाव्यं ब्राह्मणे तपः।
संभाव्यं चापलं स्त्रीषु संभाव्यं ज्ञातितो भयम् ॥ ५८ ॥
तन्तवोऽप्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः।
बहून्बहुत्वादायासान्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ५९ ॥
धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ ६० ॥
ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।

हे मनुजेन्द्र ! जातिमें भिन्नहुए जनोंका परिणाम विनाशसे पृथक् और कुछभी नहीं विद्यमान है अर्थात् जातिसे भिन्नहुए जनोंका परिणाम बिनाश ही है ॥ ५७ ॥ गौओंमें दुग्धादि संपत्ति होनी चाहिये और ब्राह्मणमें तप होना चाहिये और स्त्रियोंमें चपलता होनी चाहिये और जातिसे भय होना चाहिये ॥ ५८ ॥ परस्पर एकसमान ऐसे सूक्ष्म तन्तु बहुतसे मिलकर दृढ रहते हैं और वह बहुत होनेसे बहुतसे कष्ट सहलेतेहैं यह उपमा सज्जनोंकी है जिस प्रकार कि, अल्पबल भी होकर सज्जन बहुतोंके साथ अनेक कष्ट सहलेनेको समर्थ होतेहैं ॥५९॥ हे धृतराष्ट्र और हे भरतर्षभ ! जिस प्रकार कि आपसमें पृथक् हुए अंगार धुआं करते हैं और मिलकर जलनेलगते हैं तिसी प्रकार जातिवाले भी जानने चाहिये ॥ ६० ॥ हे धृतराष्ट्रजी ! ब्राह्मण और

वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥ ६१ ॥
महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥ ६२ ॥
अथ ये सहिता वृक्षाः संघशः सुप्रतिष्ठिताः ।
ते हि शीघ्रतमान्वातान्सहन्तेन्योन्यसंश्रयात् ॥ ६३ ॥
एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ॥ ६४ ॥
अन्योन्यसमुपष्टंभादन्योन्यापाश्रयेण च ।

स्त्री और जाति और गौओंके विषै पीडा करनेमें जो शूर अर्थात् समर्थ हैं वे पतित होजाते हैं जिस प्रकार कि, डालीसे पकाहुआ फल गिरजाताहै ॥ ६१ ॥ भलीप्रकार पुष्टतापूर्वक स्थितहुआ अति बली बडाभारी अकेला वृक्ष शाखाओंसहित क्षणमात्रमें ही पवनसे मर्दित होनेको समर्थ होताहै ॥ ६२ ॥ और जो कि, वृक्ष वनमें इकट्ठे मिलेहुए समूहके समूह भलीप्रकार पुष्टतापूर्वक खडेहुए हैं वह परस्पर आश्रयसे अतिशीघ्र चलनेवाले पवनोंको सहलेतेहैं ॥ ६३ ॥ इसी प्रकार गुणोंसे युक्तहुए अकेले मनुष्यके नाश करनेको शत्रुजन अपने योग्य मानतेहैं जिस प्रकार कि पवन अकेले जमेंहुए वृक्षके उखाडनेको समर्थ होताहै ॥ ६४ ॥ परस्पर मेलमिलाप होनेसे और

ज्ञातयः संप्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥ ६५ ॥
अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः ।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः॥ ६६ ॥
न मनुष्ये गुणः कश्चिद्राजन्सधनतामृते ।
अनातुरत्वाद्भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥ ६७ ॥

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम् ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ ६८ ॥

परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे जातिवाले जन इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त होतेहैं जिस प्रकार कि, तालाबमें कमल मिलकर बढतेहैं ॥ ६५ ॥ हे राजन्! ब्राह्मण, गौ, जाति, बालक और स्त्री यह और जिनका अन्न जेंवै और जो कि शरण प्राप्तहुए हों वह नहीं मारनेयोग्य हैं ॥ ६६ ॥ हे राजन्! सधनता और आरोग्यके विना मनुष्यमें और कोई गुण नहीं है किन्तु सधनता और आरोग्य ही गुण है क्योंकि निर्धन और रोगी जन जीवते ही मरेके समान होते हैं पर तुम्हारे तौ धन और आरोग्य होनेसे सब प्रकार कल्याण है ॥६७॥ हे महाराज!

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते
न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम् ।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव
न बुद्धयन्ते धनभोगान्न सौख्यम् ॥ ६९ ॥
पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे
द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन् ।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां
कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति ॥ ७० ॥

आप मन्यु नाम दीनताका पान कीजिये और शान्त हूजिये कैसी है दीनता कि विना ही व्याधिसे उत्पन्न होजावैहै और स्वभावसे अतिकटुक और कठोर तथा तीक्ष्ण और गरम है और शिरके रोगकर्त्ता है और पापके संग्रह करनेवाली है और सज्जनोंके पान करने योग्य है और जिसको असज्जन नहीं पीते हैं ॥ ६८ ॥ रोगसे पीडितहुए जन सत् असत् कार्यके फलोंको नहीं आदर करतेहैं और विषयोंके विषै तत्त्व नाम इष्टानिष्टज्ञानको प्राप्त होतेहैं दुःखसे युक्तहुए तथा रोगीजन सदा ही न धन भोगोंका और न सौख्यका अनुभव करतेहैं ॥ ६९ ॥ हे राजन् ! पहिले जुआमें

न तद्बलं यन्मृदुना विरुध्यते
सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्य।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ ७१ ॥
धार्तराष्ट्राः पाण्डवान्पालयन्तु
पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु।
एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या
जीवन्तु राजन् सुखिनः समृद्धाः ॥ ७२ ॥

जीतीहुई द्रौपदीको देखकर मैंने जो वचन कहाथा उसको तुम नहीं करते हुए वह वचन यह है कि, आप पाशोंकी क्रीडामें स्थितहुए दुर्योधनको मनैं करदीजिये क्योंकि, कितवत्व नाम जुआमें प्रीतिकरनेरूप कर्मको पण्डितजन वर्जित करते हैं ॥ ७० ॥ वह बल नहीं है जो कोमलस्वभाव सज्जनसे विरुद्ध होवै और धर्म सूक्ष्म भी बलसे सेवा करनेयोग्य है। क्रूर पुरुषके विषे स्थितहुई लक्ष्मी नाश होजाती है और कोमल स्वभाव सज्जनकर इकट्ठी की पुत्रपौत्रतक चलीजाती है ॥ ७१ ॥ मेरी सम्मति तौ यह है कि, धृतराष्ट्रके पुत्र पाण्डवोंकी रक्षा करैं और

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य
त्वयाधीनं कुरुकुलमाजमीढ ।
पार्थान्बालान्वनवासप्रतप्तान्
गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन् ॥ ७३ ॥
सन्धत्स्व त्वं कौरवपाण्डुपुत्रै-
र्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु ।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे
दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुर-हितवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ [४]

पाण्डुके पुत्र तुम्हारे पुत्रोंकी रक्षा करैं । हे राजन् ! एक ही शत्रु मित्र-वाले और एक ही कार्यवाले होकर कौरव सुखी और समृद्ध हुए जीवैं ॥ ७२ ॥ हे आजमीढ ! तुम अब कौरवोंके मध्यमें मेढ होकर स्थित हूजिये । हे तात ! अपनी कीर्तिकी रक्षा करते हुए तुम वनवाससे दुःखित ऐसे बालक पांडवोंकी रक्षा करिये ॥ ७३ ॥ हे कौरव ! पांडुपुत्रोंके साथ सलाह करलीजिये तुम्हारे अन्तर नाम परस्पर भेद

विदुर उवाच ।

सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
वैचित्रवीर्य पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ॥ १ ॥
दानवेन्द्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत् ।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ॥ २ ॥

होनेको तुम्हारे शत्रुजन कांक्षा न करें ! हे नरदेव ! वह पाण्डव समस्त सत्यमें स्थित हैं हे नरेन्द्र ! तुम दुर्योधनको सत्यमें स्थित कीजिये॥ ७४॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये
श्रीपाठकवंशावतंस-पंडितमङ्गलसेनात्मजकाशिरामविरचित-
भाषातिलके षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ [४]

इसके अनन्तर फिर विदुरजी महाराज राजा धृतराष्ट्रसे कहनेलगे हे राजेन्द्र ! हे वैचित्रवीर्य ! स्वायम्भुव मनु इन सतरह पुरुषोंको मूर्ख बतलातेहुए कैसे वह मूर्ख हैं कि, मानों नहीं हननेयोग्य आकाशको मुष्टियोंसे हनते हैं ॥ १ ॥ और दानवेन्द्र नाम मेघसमूहोंके इन्द्रका जो कि वर्षाकालमें दीखनेवाला धनुष है वह नहीं भी नवानेयोग्य है पर उसको मानो नवाना चाहते हैं और मरीचि नाम सूर्य्यके नहीं ग्रहण

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्ये-
यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम् ।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते
यथायाच्यं याचते कत्थते वा ॥ ३ ॥
यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं
यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी ।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति
यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ॥ ४ ॥

करनेयोग्य किरणोंको ग्रहण करना चाहते हैं ॥ २ ॥ जो कि, नहीं शिक्षा करनेयोग्यको शिक्षा करते हैं और जो कि निंदितवृत्तिसे प्रसन्न होते हैं और जो कि, असमयपर शत्रुकी सेवा करते हैं और जो कि, स्त्रियोंकी रक्षा करते हैं और उन स्त्रियोंसे कल्याणको प्राप्त होते हैं अर्थात् स्त्रियोंकी सेवासे कल्याण पाते हैं और जो कि,नहीं मांगनेलायकसे मांगता है और जो कि वृथा ही बकवाद करता है ॥ ३ ॥ और जो कि, कुलीन हो नहीं करनेलायक कर्म करता है ॥ और जो कि निर्बल होकर बलीके साथ सदैव वैर करता है और जो कि नहीं श्रद्धा रखनेवालेके लियेहि तवाक्य कहता है और हे नरेन्द्र

वध्वाऽवहासं श्वशुरो मन्यते यो
वध्वाऽवसन्नभयो मानकामः ।
परक्षेत्रे निर्वपति यश्च बीजं
स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ ५ ॥
यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीतिवादी
दत्त्वा च यः कत्थति याच्यमानः ।
यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत
एतान्नयन्ति निरयं पाशहस्ताः ॥ ६ ॥

जो कि नहीं चाहनेयोग्य पदार्थकी चाहना करता है ॥ ४ ॥ और जो कि श्वशुर होकर पुत्रवधूके साथ परिहास करना मानता है और पुत्रबधूने अपने पिता भ्राता आदिसे जिसकी कि भय आपदामें दूर करादी है ऐसा जो कि, फिर पुत्रवधूके पिता भ्रातादिकसे मान चाहताहै और जो कि, दूसरेके क्षेत्रमें बीजबोता है अर्थात् परस्त्रीके साथ गमन करता है और जो कि, स्त्रीसे असमयपर वार्त्तालाप करता है ॥५ ॥ और जो कि, दूसरेसे लेकर यह कहता है कि मैं नहीं जानता हूँ और जो कि, किसीकर याचना कियाहुआ दान देकर अपनी बडाई करता है और जो कि, अविद्यमानका विद्यमान होना समर्थन

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ ७ ॥
जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा
क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ॥ ८ ॥

करता है इन सबको पाश है हाथमें जिनके ऐसे यमराजके दूत नरकको लेजाते हैं ॥ ६ ॥ जो मनुष्य जिसके विषै जिस प्रकार वर्ते उसके विषै भी उसको उसीप्रकार वर्त्तना चाहिये यह धर्म है। जो कि, मायाचार अर्थात् कपटी हैं वह कपटताकर ही वर्त्तना चाहिये और जो कि, साधु है वह साधुभावकर वर्त्तना चाहिये ॥ ७ ॥ जरा नाम वृद्धावस्था रूपको हरलेती है और धीरजको आशा हरलेती है और मृत्यु प्राणोंको हरलेता है और निन्दा धर्मचर्याको हरलेती है और काम लज्जाको हरलेता है और दुर्जनोंकी सेवा आचारको हरलेती है। क्रोध लक्ष्मीको हरलेता है और अभिमानसर्वको हरलेता है ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा ।
नाप्नोत्यथ च तत्सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥ ९ ॥

विदुर उवाच ।

अतिमानोऽतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप ।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥ १० ॥
एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तत्यायूंषि देहिनाम् ।
एतानि मानवान्घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ ११ ॥

इतना सुन धृतराष्ट्र महाराज विदुरजीसे फिर बोले हे विदुरजी ! जब कि समस्त वेदोंमें सौ वर्षकी आयुवाला पुरुष कहा है फिर वह समस्त आयुको किसकारण नहीं प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ तब विदुरजी महाराज कहनेलगे हे नराधिप ! एक तो अतिमान, दूसरा निष्ठुर बोलना, तीसरा अत्याग' अर्थात् महापराध चौथा क्रोध, पांचवां अपने उदरपोषण करनेकी इच्छा, छठा मित्रसे बैर करना, यह छः हैं ॥ १० ॥ यह भी बड़ी पैनी तलवार हैं जो देहधारियोंकी आयुको काटदेती है और यह ही मनुष्योंको मारदेती है इससे हे राजन् ! इन तलवारोंसे तुम्हारा मृत्यु न होवै ऐसा करिये जिससे तुम्हारा कल्याण हो ॥ ११ ॥

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः ।
वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ॥ १२ ॥
आदेशकृद्वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः ।
शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः ।
एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ॥ १३ ॥
गृहीतवाक्यो नयविद्वदान्यः
शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च ।

हे भारत ! जो कि, अपने पर विश्वास करनेवालेकी स्त्रियोंके प्रति गमन करता है और जो कि गुरुकी शय्यापर गमन करता है और जो कि, द्विजाति होकर शूद्राका पति होजाता है और मदिरादिका पान करता-है ॥ १२ ॥ और जो कि ब्राह्मणोंको सब कालमें सर्वकार्यके करनेमें आज्ञा करता रहता है और स्वयं कुछ भी नहीं करता है और जो कि, ब्राह्मणोंकी वृत्ति हरलेता है और समस्तकार्यमें निमन्त्रणादि देने-दिला-नेके लिये ब्राह्मणोंको ही भेजता है और जो कि, शरण आयेहुएको मारनेवाला है यह सब ब्रह्महत्या करनेवालोंके समान हैं इनके साथ संसर्ग करके मनुष्यको अवश्य ही प्रायश्चित्त करना चाहिये ऐसा वेद कहता है ॥ १३ ॥ जो कि गृहीतवाक्य अर्थात् विद्वान् और नीतिको जाननेवाला और दानी है और अतिथि आदिके भोजन करनेसे पीछे

नानर्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः
सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ १४ ॥

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १५ ॥
यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १६ ॥
त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १७ ॥

बचेहुए अन्नका जेवनेवाला और किसीकी भी नहीं हिंसा करनेवालाहै और अनर्थ कर्मसे नहीं आकुल रहताहै और किये उपकारका जाननेवाला है और सत्य बोलनेवाला तथा कोमलस्वभाव है ऐसा विद्वान् स्वर्गको प्राप्त होताहै ॥ १४ ॥ हे राजन् ! संसारमें निरन्तर प्रिय वाक्य कहनेवाले तौ सुलभ हैं पर जो कि, वास्तवमें तौ हितकारक हैं और बोलनेमें अप्रिय प्रतीत होताहै ऐसे वाक्यको कहनेवाला और सुननेवाला दुर्लभ है ॥ १५ ॥ जो कि, धर्मको आश्रय कर स्वामीके प्रिय और अप्रिय दोनोंको त्यागि बोलनेमें तौ अप्रिय हों पर वास्तवमें हितकारक हों ऐसे वचन स्वामीसे कहताहै उसीकर राजा सहायवाला होताहै अर्थात् वह राजाका सच्चा सहायक है ॥ १६ ॥ कुलके अर्थ एक

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ १८ ॥
द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ १९ ॥
उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राज-
न्नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय ।

पुरुषको त्यागदेवै और ग्रामके अर्थ कुलको त्यागदेवै और ग्रामको देशके अर्थ त्यागदेवै और अपने अर्थ पृथिवीको त्यागदेवै भाव यह है जिस पुरुषोंके रहनेसे कुलमें दोष आताहो तौ उस पुरुषको त्यागदेवै और जिस कुलसे यदि ग्रामभरमें दोष आता हो तो उस कुलको त्यागदेवै और जिस ग्रामसे देशभरमें दोष आता हो तौ उस ग्रामको त्यागदेवै और जिस पृथिवीसे अपनेमें दोष आता हो तौ उस पृथिवीको त्याग देवै ॥ १७ ॥ आपदाके लिये धनकी रक्षा करै और स्त्रियोंकी धनोंसे रक्षा करै और आत्माको स्त्री और धन इन दोनोंसे रक्षा करै ॥ १८ ॥ यह जुआ कर्म पहिले कल्पमें भी नरोंके वैर करानेवाला विद्वानोंके देखनेमें आयाथा तिससे बुद्धिमान् जन हास्यके लिये भी जुआका न सेवन करे ॥ १९ ॥ हे राजन् ! जुआ खेलनेके समय यह जो मैंने योग्य वचन कहा था वह हे वैचित्रवीर्य ! तुमको नहीं रुचा था जिस

तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य
न रोचते तव वैचित्रवीर्य ॥ २० ॥
काकैरिमांश्चित्रबर्हान्मयूरान्
पराजयेथाः पाण्डवान्धार्तराष्ट्रैः ।
हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान्गूहमानः
प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेन्द्र ॥ २१ ॥
यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं
भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य ।
तस्मिन्भृत्या भर्तरि विश्वसन्ति
न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ॥ २२ ॥

प्रकार कि रोगीको हितकारक औषध नहीं रुचता है किन्तु कडवा लगता है ॥ २० ॥ विचित्र पांखवाले मयूररूप इन पांडवोंको काकरूप धार्त्तराष्ट्र अर्थात् दुर्योधनादिकसे पराजय कराते हो और सिंहोंको छोडकर स्यारोंकी रक्षा करते हो इससे हे नरेन्द्र ! समय प्राप्त होनेपर तुम शोच करोगे ॥ २१ ॥ हे तात ! जो कि, जन अपने हितमें तत्पर हुए सेवा करनेवाले नौकरके लिये सब काल नहीं क्रोध करता है

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन
राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम् ।
त्यजन्ति ह्येनं वञ्चिता वै विरुद्धाः
स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥ २३ ॥
कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वा-
ण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम् ।
संगृह्णियादनुरूपान्सहायान्
सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ॥ २४ ॥

उस स्वामीके विषै नौकर भी विश्वास करते हैं और वह नौकर उस स्वामीको आपदाओंमें भी नहीं छोडसकते हैं ॥२२॥ जो नौकर जनोंकी जीविकाके बन्द करनेसे अर्थात् उन नौकरोंको मजूरी आदि न देकर अपूर्व राज्यधन संग्रह करना चाहता है उस स्वामीको मजूरीसे वंचित हुए नौकर त्यागदेतेहैं क्योंकि, जिनकी कि वृत्ति हीन होजातीहै वह मंत्रीजन कैसे भी प्रिय क्यों न होवै तब भी स्वामीसे विरुद्ध होजातेहैं ॥ २३ ॥ प्रथम साध्यासाध्य निश्चय कर समस्त कर्मोंको संग्रह करै और लाभ और खर्चमें जो अनुकूल हो

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः
सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री ।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः
शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोनुकंप्यः ॥ २५ ॥
वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः
प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः ।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी
त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ॥ २६ ॥

उस जीविकाको संग्रह करै और अपने अनुकूल सहायकोंको भी संग्रह करै क्योंकि दुष्कर कर्म सहायकोंसे ही सिद्ध किये जाते हैं ॥ २४ ॥ जो कि, स्वामीका अभिप्राय जानकर समस्त कार्योंको निरालस्य होकर करता है और हितकारक वचनोंको कहता है और स्वामीके विषै सदैव ही प्रीतियुक्त रहता है और आचरणोंमें श्रेष्ठ और अपनी शक्तिको जाननेवाला है वह सेवक आत्माके समान अनुकम्पा करने योग्य है ॥ २५ ॥ जो कि, आज्ञा कियाहुआ स्वामीके वाक्यका नहीं आदर करता है और जो कि किसी कार्यमें नियुक्त किया हुआ भी

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं
दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥ २७ ॥
न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे
गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।
न चत्वरे निशि तिष्ठन्निगूढो
न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥ २८ ॥

लौटकर उत्तर देदेता है और जो कि अपनी बुद्धिका अभिमान करताहै और जो कि स्वामीके प्रतिकूल कहता है वह एतादृश सेवक शीघ्र ही स्वामीको त्यागने योग्य है ॥ २६ ॥ जो कि, आठ गुणोंसे युक्त हो उसको पंडितजन दूत कहते हैं । एक तो ढीठ न होवै दूसरे अक्लीब अर्थात् असमर्थ न हो तीसरे शीघ्रताके कार्यमें देर करनेवाला न हो चौथे दयायुक्त हो पांचवें श्लक्ष्ण नाम कोमल स्वभाव हो छठे दूसरोंकर भेद लेने योग्य न हो सातवें रोगजातीय न हो आठवें उदार बोलनेवाला हो ॥ २७ ॥ विश्वाससे जानता हुआभी कदाचित् नर असमय पर दूसरेके गृहमें न जावे और रात्रिमें छिपाहुआ आंगनमें न खडा

न निह्नवं मन्त्रगतस्य गच्छेत्
संसृष्टमंत्रस्य कुसङ्गतस्य।
न च ब्रूयान्नाश्वासिमि त्वयीति
सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥ २९ ॥

घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः
पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव
व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥ ३० ॥

होवै और न राजाकी चाहीहुई स्त्रीकी कामना करै ॥ २८ ॥ सलाह करनेको प्राप्तहुए ऐसे कुसंगी राजाकी बहुतों कर की हुई सलाहके अपलापको न प्राप्त होवै और यह भी न कहै कि ऐसी सलाह करनेमें तुम्हारे विषैं मैं नहीं विश्वास करताहूं किन्तु कारण सहित बहाना करदेवे भाव यह है कि दुष्टमन्त्रियोंवाले राजाकी बहुतोंके साथ की हुई सलाहमें पूछनेपर भी कुछ गोपनकारी वचन न कहे और न यह कहै कि ऐसी सलाह करनेमें तुम्हारे विषै मैं नहीं विश्वास करताहूं किन्तु कुछ बहाना बताकर दूर चलाजावै जिससे फिर सलाहको न बुलायाजावे ॥ २९ ॥ घृणी नाम लज्जावान् और राजा और व्यभिचारिणी स्त्री और राजाका दास और पुत्र और भ्राता और विधवा

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्च बहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ३१ ॥
एतान्गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान्गुणानेष गुणो बिभर्ति ॥ ३२ ॥

स्त्री और जिसके पुत्र बालक हों ऐसी स्त्री और सेनासे जीविका करनेवाला और जिसका कि अधिकार दूर कर दियागया हो यह जन व्यवहारोंके विषे बुद्धिमानोंको सदैव त्यागने योग्य हैं ॥ ३० ॥ आठ गुण पुरुषको प्रकाशमान करते हैं—एक तो बुद्धि, दूसरी कुलीनता, तीसरा शास्त्राभ्यास, चौथा इन्द्रियोंका वश रखना, पांचवां पराक्रम, छठा बहुत न बोलना, सातवां यथाशक्ति दान, आठवीं कृतज्ञता अर्थात् उपकारका जानना ॥ ३१ ॥ हे तात ! इन महत् प्रभाव-वाले गुणोंसे एकगुण ही बलात्कारसे आश्रय करता है जो कि प्रभु होकर मनुष्यका सत्कार करतारहता है यह परसत्काररूप गुण सब

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते
बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च
श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥ ३३ ॥
गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते
आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं
न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ॥ ३४ ॥
अकर्मशीलं च महाशनं च
लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम्।

गुणोंको धारण करलेता है ॥ ३२ ॥ जो कि स्नानशील है अर्थात् नित्य स्नान करनेवाला है उसको दश गुण सेवा करतेहैं एक तो बल दूसरा रूप, तीसरी स्वरकी शुद्धता और चौथी वर्णोंकी शुद्धता, पाञ्चवां स्पर्श, छठा गन्ध, सातवीं विशुद्धता, आठवीं कान्ति नववीं सुकुमारता दशवीं उत्तमस्त्रियां ॥ ३३ ॥ प्रमाणका भोजन करनेवालेको छः गुण सेवा करतेहैं एक तो आरोग्य दूसरी आयु, तीसरा बल चौथा सुख और पाञ्चवां जो कि उसके आरोग्यादि गुणयुक्त सन्तान होवैहैं और छठा जो कि जन उसको यह बहुत खानेवाला है इस प्रकार नहीं आक्षेप करते हैं ॥ ३४ ॥ जो कि अकर्म करनेवाला है और

अदेशकालज्ञमनिष्टवेष-
मेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥ ३५ ॥
कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च
वनौकसं धूर्त्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्न-
मेतान्भृशार्त्तोऽपि न जातु याचेत् ॥ ३६ ॥
संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं
नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च ।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चा-
प्येतान्न सेवेत नराधमान् षट् ॥ ३७ ॥

जो कि बहुत भोजन करनेवाला है और जो कि जनोंसे द्वेषरखताहै और बहुतमायावी है और जो कि क्रूर है और जो कि देशकालका जानने-वाला नहीं है और जिसका वेष उत्तम नहीं हो इनको अपने गृहमें कदाचित् भी न ठहरावै ॥ ३५ ॥ जो कि कृपणहै और जो कि निन्दक है और जो कि मूर्ख है और जो कि वनमें रहनेवाला है और जो कि धूर्त है और जो कि मानके अयोग्यका मान करताहो और जो कि निर्दय और जिसने अपनेसे वैर किया हो और जो कि उपकारको नाश करता है इन नौ जनोंसे कदाचित् भी न मांगे ॥ ३६ ॥ संक्लि-ष्टकर्मा अर्थात् आततायी और अतिप्रमादवाला तथा सदा झूठ बोल-

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः ।
अन्योन्यबन्धनावेतौ विनान्योन्यं न सिध्यतः ॥ ३८॥

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा
वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय काश्चित् ।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा
अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत ॥ ३९ ॥

हितं यत्सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम् ।
तत्कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥ ४० ॥

नेवाला और अदृढ भक्तिवाला और जिसने स्नेह त्यागदिया हो और जो अपनेको चतुर मानता हो इन छः नीच नरोंका कदापि न सेवन करै ॥ ३७ ॥ सहायकोंके बाँधनेवाले धन होतेहैं और धनोंके बांधनेवाले सहायक होतेहैं अर्थात् धनोंसे सहायक प्राप्त होतेहैं और सहायकोंसे धन प्राप्त होताहै यह दोनों एक दूसरेके परस्पर प्राप्त करनेवाले हैं इनमें एक दूसरेके विना दोनों नहीं सिद्ध होतेहैं ॥३८॥ पुत्रोंको जन्माय फिर उनको विना ऋणके कर फिर उनके लिये कोई जीविका विधान कर और इसी प्रकार समस्त कुमारी पुत्रियोंको भी पतियोंके स्थानमें स्थित कर वनमें स्थित हुआ मुनि होनेकी इच्छा करै ॥ ३९ ॥ जो कि समस्त प्राणियोंका हित और अपने सुख देनेवाला है उसी कर्मको

बुद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च ।
व्यवसायश्च यस्य स्यात्तस्यावृत्तिभयं कुतः ॥ ४१ ॥

पश्य दोषान्पाण्डवैर्विग्रहे त्वं
यत्र व्यथेयुरपि देवाः सशक्राः ।
पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो
यशः प्रणाशो द्विषतश्च हर्षः ॥ ४२ ॥

भीष्मस्य कोपस्तव चैवेन्द्रकल्प
द्रोणस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य ।
उत्सादयेल्लोकमिमं प्रवृद्धः
श्वेतो ग्रहस्तिर्यगिवापतन् खे ॥ ४३ ॥

करै क्योंकि राजाके विषै सर्वार्थ सिद्धके लिये यह ही मूल है ॥ ४० ॥ जिसके बुद्धि और प्रभाव और तेज और सत्त्व नाम बल और उद्यम और निश्चय बनारहता है उसको जीवका भय किसीतरह नहीं होताहै किन्तु उसकी जीविका सदैव बनी रहती है ॥ ४१ ॥ हे राजन् ! पांडवोंके साथ विग्रह करनेमें वह दोष देखिये जिनके होनेपर वैर इंद्रसहित देवता भी व्यथित होते हैं. एक तौ पुत्रोंके साथ वैर दूसरा नित्य भयभीत होकर वास तीसरा कीर्तिका नाश चौथा वैरियोंको हर्ष ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! भीष्मजीका और इन्द्रके समान तुम्हारा और द्रोणाचार्य और

तव पुत्रशतं चैव कर्णः पञ्च च पाण्डवाः ।
पृथिवीमनुशासेयुरखिलां सागरांबराम् ॥ ४४ ॥
धार्तराष्ट्रा वनं राजन् व्याघ्राः पाण्डुसुता मताः ।
मा वनं छिन्धिसव्याघ्रंमा व्याघ्राननिशन्वनात् ॥ ४५ ॥
न स्याद्वनमृते व्याघ्रान् व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम् ।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रैर्व्याघ्रान्रक्षति काननम् ॥ ४६ ॥
न तथेच्छन्ति कल्याणान्परेषां वेदितुं गुणान् ॥
यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतसः ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर राजाका अति बढाहुआ क्रोध इस समस्त लोकका नाश करसकताहै जिस प्रकार श्वेत नाम धूमकेतु ग्रह आकाशमें तिरछा होकर उदयहुआ समस्त लोकोंका नाश करदेताहै॥४३॥तुम्हारे सौ पुत्र और कर्ण और पांचों पांडव यह समस्त समुद्र हैं वस्त्र जिसके ऐसी सब पृथिवीका नाश करसकतेहैं ॥ ४४ ॥ हे राजन् ! धार्तराष्ट्र! अर्थात् दुर्योधनादिक तौ बन हैं और पांडुके पुत्र व्याघ्र हैं सो तुम व्याघ्रसहित वनको मत काटो और वनसे व्याघ्र भी नहीं नाशको प्राप्त होवैं ॥ ४५ ॥ व्याघ्रोंसे विना वन नहीं रहताहै और वनके विना व्याघ्र नहीं रहसकते हैं क्योंकि, व्याघ्रोंसे वन रक्षित रहताहै और वन व्याघ्रोंकी रक्षा करता है ॥ ४६ ॥ पापात्मा जन दूसरोंके शुभगुण जाननेको तैसी नहीं

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥ ४८ ॥
यस्यात्मा विरतः पापात्कल्याणे च निवेशितः ।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥ ४९ ॥
यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते ।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विन्दति ॥ ५० ॥
सन्नियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः ।
स श्रियो भाजनं राजन्यश्चापत्सु न मुह्यति ॥ ५१ ॥

इच्छा करते हैं जैसी कि दूसरोंकी निर्गुणता जाननेकी इच्छा करतेहैं ॥ ४७ ॥ उत्तम अर्थ सिद्धिके चाहनेवाला आदिसे ही धर्मका सेवन करै क्योंकि धर्मसे अर्थ नहीं पृथक् होताहै जिस प्रकार कि स्वर्गसे अमृत नहीं पृथक् होताहै ॥ ४८ ॥ जिसका आत्मा पापसे तौ रुका हुआ है और शुभकर्ममें निवेशित है उसने यह सब जानलिया है जो कि प्रकृति और विकृति है ॥ ४९ ॥ जो कि धर्म और अर्थ और कामको कालके अनुसार सेवन करता है वह इस लोक और परलोक दोनोंमें धर्म अर्थ और काम इन तीनोंके संयोगको प्राप्त होताहै ॥५०॥ जो कि क्रोध और हर्ष इन दोनोंके उठे हुए वेगको रोक

बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे ।
यत्तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥ ५२ ॥
अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते ।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ॥ ५३ ॥
यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् ।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत ।
यद्बलानां बलं श्रेष्ठं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ ५५ ॥

लेताहै और जो कि आपदाओंके विषे नहीं मोहित होताहै हे राजन्! वह ही लक्ष्मीका पात्र होताहै ॥ ५१ ॥ पुरुषोंका सदैवसे पांच प्रकारका बल है उसको मुझसे श्रवण करिये । जो कि बाहुबल है वह सबसे छोटा बल मुनिजनोंने कहाहै ॥ ५२ ॥ और जो कि उत्तम २ मन्त्रियोंका लाभ है वह दूसरा बल है और जो कि धनका लाभ है उसको तीसरा बल पंडित जन कहते हैं इन दोनों बल होनेसे तुम्हारे मङ्गल होरहाहै ॥ ५३ ॥ हे राजन्! जो कि इस जनका पितृपितामह सम्बन्धी सहज बल है उसका कुलबल नाम है वह चतुर्थ बल कहाताहै ॥ ५४ ॥ हे भारत ! जिस बलकर यह समस्तबल इकट्ठे

महते योपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः ।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ॥ ५६ ॥
स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु ।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ ५७ ॥
प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तो-
श्चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि ।
न होममन्त्रा न च मङ्गलानि
नाथर्वणा नागप्यदाः सुसिद्धाः ॥ ५८ ॥

कियेहुए हैं और जो समस्तबलोमें श्रेष्ठ बल है वह बुद्धिबल कहाहै॥५५॥ जो कि नर नरके बडे भारी अपकार करनेके लिये समर्थ होताहै उसके साथ वैर रोपकर ऐसा न विश्वास करै कि मैं उससे दूर हौं वह मेरा क्या करसकता है ॥ ५६ ॥ स्त्रियोंमें और राजाओंमें और सर्पोंमें और स्वाध्याय नाम वेदाभ्यासमें और समर्थमें और शत्रुओंमें और भोगविषयोंमें और शरीरकी अवस्थामें विश्वास करनेको ऐसा कौन विद्वान् है जो योग्य होसकता है ॥ ५७ ॥ बुद्धिरूप बाणकर मारेहुए जन्तुके जिवानेवाले चिकित्सक होतेहैं न औषध होतेहै न होममन्त्र होतेहैं न मङ्गलकर्म होतेहैं और न अथर्वणवेदके कहेहुए मन्त्र तन्त्र यन्त्रादि होते हैं. और न सुन्दर सिद्ध कियेहुए धातुकाष्ठादिमय

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत ।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ॥ ५९ ॥
अग्निस्तेजो महल्लोके गूढास्तिष्ठति दारुषु ।
न चोपयुंक्ते तद्दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ॥ ६० ॥
स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते ।
तद्दारु च वनं चान्यान्निर्दहत्याशु तेजसा ॥ ६१ ॥
एवमेव कुले जाताः पावकोपमतेजसः ।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ॥ ६२ ॥

औषध समूह होतेहैं ॥ ५८ ॥ हे भारत ! एक तौ सर्प, दूसरा अग्नि तीसरा सिंह, चतुर्थ कुलपुत्र यह मनुष्यकर नहीं तिरस्कार करनेयोग्य हैं क्योंकि यह समस्त अतितेजस्वी होते हैं ॥ ५९ ॥ संसारमें जिस अग्निका बडाभारी तेज होता है वह अग्नि काष्ठोंमें छिपाहुआ स्थित रहता है और उस काष्ठको नहीं जलाता है जबतक कि दूसरोंकर नहीं प्रदीप्त किया जाता है ॥ ६० ॥ जब कि काष्ठोंमें मथकर वह अग्नि प्रदीप्त कियाजाता है तब उस काष्ठको और अन्य वनको अपने तेजसे शीघ्र ही जला देता है ॥ ६१ ॥ इसी प्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्नहुए कुलीन जन होते हैं जिनका तेज अग्निके समान होता है और क्षमावान्हुए निश्चेष्टित होकर सोवते रहते हैं जिस

लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पाण्डुसुता मताः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ६३ ॥

वनं राजंस्तव पुत्रोऽम्बिकेय
सिंहान्वने पाण्डवांस्तात विद्धि ।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत्
सिंहा विनश्येयुर्ऋते वनेन ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि
विदुरवाक्ये सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥ [५]

प्रकार कि काष्ठमें अग्नि सोवतारहता है ॥ ६२ ॥ हे राजन् ! पुत्रों-सहित आप लताधर्म हैं और पाण्डुके पुत्र शालवृक्ष हैं सो महत् वृक्षको नहीं आश्रितहुई लता कदाचित् भी नहीं बढसकती है ॥ ६६ ॥ हे अंबिकेय ! तुम्हारे पुत्र वन है और उस वनमें पाण्डवोंको हे तात ! तुम सिंह जानिये सिंहोंसे विहीन हुआ वन नष्ट होजाताहै और वनके विना सिंह नष्ट होजाते हैं ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुर वाक्ये श्रीपाठक वंशावतंस-पंडितमङ्गलसेनात्मजकाशिरामविरचित-भाषातिलके सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७॥ [५]

विदुर उवाच ।

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आगते ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय
आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां
ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ॥ २ ॥

यस्योदकं मधुपर्कं च गां च
न मन्त्रवित्प्रतिगृह्णाति गेहे ।
लोभाद्भयादथ कार्पण्यतो वा
तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर फिर विदुरजी महाराज कहनेलगे कि हे राजन् ! वृद्धके अपनेप्रति आवते संतैं तरुणजनके प्राण ऊपरको निकलकर चलनेलगते हैं फिर उस वृद्धका प्रत्युत्थान और प्रणाम करनेके पश्चात् उन प्राणोंको फिर प्राप्त होजाता है ॥ १ ॥ आयेहुए सज्जनके लिये प्रथम आसन दे और जल लाकर उसके चरणोंको धोय फिर कुशल पूछि तदनन्तर अपनी व्यवस्था जनाय फिर अन्नको शुद्ध करके उसके लिये धीरजन देवै ॥ २ ॥ जिसके घरमें वेदवेत्ता अतिथि जल मधु-

चिकित्सकः शल्यकर्तावकीर्णी
स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च ।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च
भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः ॥ ४ ॥
अविक्रेयं लवणं पक्कमन्नं
दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।
तिला मांसं फलमूलानि शाकं
रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च ॥ ५ ॥

पर्क और वाणीको लोभ वा कृपणतासे नहीं ग्रहण करताहै उसके जीवनको आर्यजन अनर्थ कहते हैं ॥ ३ ॥ चिकित्सा करनेवाला और बाण बनानेवाला और अवकीर्णी अर्थात् जिसका कि ब्रह्मचर्य नष्ट होगया हो और चोर और क्रूर और मदिरा पीनेवाला और गर्भपात करनेवाला और सेनासे जीविका करनेवाला और वेदको बेचनेवाला ऐसा जल देनेके योग्य नहीं है तब भी अतिथि होकर आयाहुआ अत्यन्त प्रिय होना चाहिये ॥ ४ ॥ लवण और पकाहुआ अन्न और दधि और दुग्ध तथा शहद तैल घृत तिल मांस और फल मूल शाक और लालवस्त्र और सब प्रकारके गन्ध और गुड यह नहीं बेचने

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकाञ्चनः
प्रहीणशोको गतसन्धिविग्रहः ।
निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये
त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ६ ॥
नीवारमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः
सुसंयतात्माग्निकार्येषु चोद्यः ।
वने वसन्नातिथिष्वप्रमत्तो
धुरन्धरः पुण्यकृदेष तापसः ॥ ७ ॥

योग्य है ॥ ५ ॥ जो कि किसीपर नहीं क्रोध करता है और जिसके एकसमान ही लोहा पत्थर सुवर्ण है और जिसका शोक दूर होगया है और जिसको सलाह करना तथा विग्रह करना यह दोनों नहीं विद्यमान हैं और जो कि निन्दा और प्रशंसा दोनोंसे पृथक् है और जो कि उदासीनके समान प्रिय और अप्रिय दोनोंके त्यागनेवाला है सो वह ही संन्यासी है इस कथनसे यह जनायागया कि जब दोषवान् अतिथि पूजने योग्य हैं तौ फिर क्या कहना कि एतादृश गुणवाला अतिथि होवै तौ पूजने योग्य ॥ ६ ॥ जिसकी कि वृति नीवार और मूल और इंगुदी और शाकसे होवै है और जिसने मनका संयम किया है और जो कि अग्निकार्योंमें उद्यत रहता है और वनमें ही रहता है औ

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसतः ॥ ८ ॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ९ ॥
अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः ।
श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत् ॥१०॥
पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः ।

अतिथियोंके सत्कारमें असावधान नहीं है और पुण्य करनेवाला है सो वह ही तपस्वी है ॥ ७ ॥ बुद्धिमान्का अपकार करके ऐसा न विश्वास करै कि मैं उससे दूर वसताहौं वह मेरा क्या कर सकता है क्योंकि बुद्धिमान्की बाहु दीर्घ होती हैं वह बुद्धिमान् दूसरोंकर हिंसा किया हुआ जिन्हीं बाहुओंसे दूसरोंकी हिंसा करदेता है ॥ ८ ॥ जो कि विश्वासके योग्य न होवै उसके विषै न विश्वास करै और जो विश्वासके योग्य होवै उसके विषै भी न अतिविश्वास करे कारण कि विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय जडको भी काट देता है ॥ ९ ॥ संसारमें जन ईर्षा करनेवाला न होवै और गुप्तदार अर्थात् स्त्रियोंका रक्षक हो और संपदाओंके यथावत् बांटनेवालाहो और प्रिय बोलनेवाला हो और श्लक्ष्ण अर्थात् कोमल स्वभाव हो और स्त्रियोंके मध्यमें मधुरभाषी हो और उन स्त्रियोंके वशवर्ती न होवै ॥ १० ॥ स्त्रियां पूजा करने-

स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्या विशेषतः ॥ ११ ॥
पितुरन्तःपुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम् ।
गोषु चात्मसमं दद्यात्स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ॥ १२ ॥
भृत्यैर्वाणिज्यचारं च पुत्रैः सेवेत च द्विजान् ।
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्त्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ॥ १३ ॥

योग्य और बडे भागवाली तथा पुण्यात्मा और गृहका प्रकाश और साक्षात् घरकी लक्ष्मी पूर्वजोंने कही है तिससे स्त्रियोंकी विशेष कर रक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥ पिताके अधिकारमें अन्तःपुर अर्थात् स्त्रियोंके रहनेका स्थान देदेवे और माताके अधिकारमें रसोईका स्थान देदेवे और गौ आदि पशुओंकी रक्षामें अपने समान विश्वास किये हुए जनको नियुक्त करदेवे। और कृषिके अवलोकनमें स्वयं ही प्राप्त होवै ॥ १२ ॥ और भृत्य नाम नौकर चाकरोंके द्वारा वाणिज्य वृत्तिका सेवन करै और पुत्रोंके द्वारा ब्राह्मणोंका सेवन करै जलोंसे अग्नि उत्पन्न हुआ है और ब्राह्मणसे क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है और पत्थरसे लोहा उत्पन्न हुआ है उन अग्नि आदिकोंका तेज सब जगह जाता है पर अपनी अपनी योनि अर्थात् अपनी २ उत्पत्तिके स्थानमें जाकर शान्त होजाता है इस कथनसे यह जानागया कि क्षत्रिय ब्राह्मणके विषै कदाचित् भी कोप नहीं करता है किन्तु अपनी उत्पत्तिका स्थान जान-

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्यात्तु योनिषु शाम्यति ।
नित्यं सन्तः कुले जाताः पावकोपमतेजसः ॥ १४ ॥
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।
यस्य मंत्रं न जानन्ति बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ॥ १५ ॥
स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।
करिष्यन्न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥ १६ ॥
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते ।
गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥ १७ ॥

कर उसके विषै शान्त होजाता हैं ॥ १३ ॥ उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए सज्जन सदा अग्निके समान तेजवाले रहते हैं पर क्षमा धारण किये निश्चेष्टितसेहुए सोवते रहते हैं जिस प्रकार कि काष्ठमें अग्नि निश्चेष्टित हुआ सोवता रहताहै ॥ १४ ॥ जो कि बाहिर रहनेवाले तथा भीतर रहनेवाले भृत्यादि हैं वह जिस राजाकी कीहुई सलाहको नहीं जानते हैं वह सब तरफ नेत्र रखनेवाला राजा बहुतकाल पर्यन्त ऐश्वर्य भोगता है ॥१५॥ कार्यके करनेवाला कार्य होनेसे पूर्व ही उस कार्यको दूसरेसे न कहै किन्तु किएहुए धर्म, काम, अर्थ संबंधी कार्यौंको दूसरोंके लिये दिखावै ऐसा करनेपर मन्त्र नहीं भेदको प्राप्त होता है ॥१६॥ पर्वतके पृष्ठ वा प्रासाद नाम मंदिर पर चढकर वा एकान्तमें

अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रोऽभिधीयते ।
नासुहृत्परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ॥ १८ ॥
अपण्डितो वापि सुहृत्पण्डितो वाप्यनात्मवान् ।
नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात्सचिवमात्मनः ॥ १९ ॥
अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मंत्ररक्षणमेव च ।
कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ॥ २० ॥
धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
गूढमन्त्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २१ ॥

स्थित हुआ वा तृणोंसे न ढके हुए वनमें जाकर सलाह करै क्योंकि मन्त्रवेत्ताओंने तिन पूर्वोक्त स्थानोंमें ही बैठकर सलाह करना कहा है ॥ १७ ॥ हे भारत ! जो मित्र नहीं है वह सलाहके नहीं जानने योग्य होता है अथवा जो मित्र है पर मूर्ख है वह भी सलाहके जानने योग्य नहीं होता है और जो कि मित्र पंडित है पर चपलवाक् है वह भी सलाहके नहीं जानने योग्य होता है ॥ १८ ॥ पृथिवीकी रक्षा करने-वाला राजा विना परीक्षा करे अपना मन्त्री न करै ॥ १९ ॥ क्योंकि मंत्रीके विषैं ही अर्थोंके प्राप्त होनेकी इच्छा और मंत्र की रक्षा होवै है सभामें बैठनेवाले भृत्यादिक जिसके कियेहुए ही धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी कार्योंको जानते हैं वह राजा राजोंमें उत्तम माना जाता है ।

अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।
स तेषां विपरिभ्रंशाद्भ्रश्यते जीवितादपि ॥ २२ ॥
कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥ २३ ॥
अनधीत्य यथा वेदान्न विप्रः श्राद्धमर्हति ।
एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मंत्रं श्रोतुमर्हति ॥ २४ ॥
स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः ।
अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ॥ २५ ॥

जिस राजाकी सलाह गुप्त रहती है उस राजाकी सिद्धि निस्संशय होवै है ॥ २० ॥ २१ ॥ जो कि अशुभ कर्मोंका मोहसे सेवन करता है वह उन अशुभ कर्मोंके भ्रष्ट होनेसे जीवितसे भी भ्रष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥ पूर्वजोंने उत्तम कर्मोंका सेवन सुखदायक माना है और उन्हीं उत्तम कर्मोंका असेवन पश्चात्ताप करनेवाला माना है ॥ २३ ॥ जिस प्रकार कि वेदोंको न पढकर ब्राह्मण श्राद्धके नहीं योग्य होता है तिस प्रकार जिसने कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधी-भाव और समाश्रयण यह छः गुण नहीं जाने हैं वह मन्त्र सुननेके नहीं योग्य होता है ॥ २४ ॥ हे नृप ! जो कि राज्यकी स्थिति और वृद्धि तथा क्षयके जाननेवाला है और जिसका कि, आत्मा संधि, विग्रह

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षिणः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥ २६ ॥
नाममात्रेण तुष्येत च्छत्रेण च महीपतिः ।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत् ॥ २७ ॥
ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा ।
अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥ २८ ॥
न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः ।

यान, आसन द्वैधभाव और समाश्रयण इन छः गुणोंके जाननेसे प्रसिद्ध है और जो कि निंदितस्वभाव नहीं है उस राजाकी पृथिवी स्वाधीन होती है ॥२५ ॥ जिसका क्रोध होना और हर्ष होना निष्फल नहीं होता है और जो स्वयं अपने भृत्यादिकोंके कियेहुए कार्योंके देखनेवाला है और जिसने स्वयं ही अपनी दृष्टिमात्रसे अपना खजाना जाना है उस राजाको पृथिवी धनोंके देनेवाली होती है ॥ २६ ॥ राजा केवल अपने नाममात्रकर तथा छत्रकर ही सन्तुष्ट रहै और अपने हाथसे इकट्ठे किये धनादिकोंको भृत्यादिकोंके लिये यथायोग्य देदेवै और उन समस्त धनादिकोंका भोगनेवाला अकेला ही न होवै॥२७॥ ब्राह्मण ब्राह्मणको जानता है भर्त्ता स्त्रीको जानता है राजा मन्त्रीको जानता है और राजा राजाको भी जानताहै ॥ २८ ॥ बन्धनको प्राप्त होकर वशको प्राप्त हुआ शत्रु नहीं छोडनेयोग्य है किन्तु उस

न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद्बले सति ।
अहताद्धि भयं तस्माज्जायते न चिरादिव ॥ २९ ॥
दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ॥ ३० ॥
निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम् ।
कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ॥ ३१ ॥
प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ ३२ ॥
न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।

बँधेहुए शत्रुको तिरछा होकर ही सबकालमें देखता रहै और यदि अपना बल होवै तौ उसको मार भी डारै ॥ २९ ॥ देवता राजा, ब्राह्मण और वृद्ध तथा बालक और आतुर इनके विषै सदैव ही यत्नसे क्रोध रोकने योग्य है ॥ ३० ॥ जो कि मूर्खोंकर सेवन कियाजाता है उस निरर्थक कलहको जो बुद्धिमान् है वह त्यागदेता है वह संसारमें कीर्ति पाता है और अनर्थसे कभी नहीं युक्त होता है ॥ ३१ ॥ जिसकी प्रसन्नता निष्फल होती है और क्रोधभी निरर्थक होता है उस राजाको प्रजा अपना भर्त्ता करना नहीं चाहता है जिस प्रकार कि स्त्रियाँ नपुंसकको अपना भर्त्ता करना नहीं चाहती है ॥ ३२ ॥ मनुष्यकी बुद्धि धनलाभके लिये नहीं होती है और न मूर्खता दरिद्रताके

लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३३ ॥
विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत ।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ॥ ३४ ॥
अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।
अनर्थाःक्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥ ३५ ॥
अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः ।

लिये होवैहै किन्तु धनके मिलनेमें और दरिद्रता होनेमें पर्यायवृत्तान्त अर्थात् इस लोकमें जो कि परलोकवाला कर्मफल है उसको बुद्धिमान् जानता है और अन्य मूर्ख नहीं जानता है। भाव यह है न तो मनुष्यकी बुद्धिसे धन होता है और न मूर्खतासे दरिद्रता किन्तु धन मिलना और दरिद्रता यह दोनों पूर्वकर्मफलके आधीन है ऐसा बुद्धिमान् जन जानता है न कि मूर्ख ॥ ३३ ॥ हे भारत ! जो कि विद्या और शील और अवस्था करके वृद्ध है और जो कि बुद्धि करके वृद्ध है और जो कि धन और कुल करके वृद्ध है उनका मूढ जन सदाही अवमान करता रहता है ॥ ३४ ॥ जो कि श्रेष्ठ आचारवाला नहीं है और जो कि मूर्ख है और जो कि निन्दक है और जो कि धर्मज्ञ नहीं है और जो कि वचन बोलनेमें दुष्ट है और जो कि क्रोधस्वभाववाला है उसके अति अनर्थ शीघ्र ही आजाते हैं ॥ ३५ ॥ प्रियवचनवर्जित दान और मर्यादाका न उल्लंघन करना और भली प्रकार

आवर्तयन्ति भूतानि सम्यक् प्रणिहिता च वाक् ॥ ३६ ॥
अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः ।
अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥ ३७ ॥
धृतिः क्षमा दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥ ३८ ॥
असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः ।
तादृङ् नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप ॥ ३९ ॥

सुन्दर कहीहुई वाणी यह प्राणियोंको अपना बनालेते हैं ॥ ३६ ॥ जो अप्रियवचनके न बोलनेवाला तथा समस्त कार्योंमें चतुर और उपकारके जाननेवाला तथा बुद्धिमान् और कोमलस्वभाव है वह यदि निर्धन भी हो तब भी भृत्यमित्रादिकोंको प्राप्त होता है अर्थात् ऐसे जनके निर्धन होनेपर भी बहुतसे भृत्य मित्रादि होजाते हैं ॥ ३७ ॥ धृति नाम धैर्य और शम नाम शान्ति और दम नाम इंद्रियोंका वशमें करना और कारुण्य नाम दया और मधुरवाक्य और मित्रोंसे वैर न करना यह लक्ष्मीके बढानेवाले हैं ॥ ३८ ॥ हे नरराज ! जो कि असंविभागी अर्थात् भृत्यादिकोंके लिये न देकर स्वयं ही भोगता है और जो कि दुष्टचित्त है और उपकारके दूर करनेवाला है और जो कि

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि ।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ॥ ४० ॥
येषु दुष्टेषु दोषः स्याद्योगक्षेमस्य भारत ।
सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ॥ ४१ ॥
येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च ।
ये चानार्ये समासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ॥ ४२ ॥
यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन्नद्यामश्मप्लवा इव ॥ ४३ ॥

निर्लज्ज है तादृश राजा त्यागनेयोग्य होता है ॥ ३९ ॥ वह रात्रिमें सुखपूर्वक नहीं सोवता है जिस प्रकार कि सर्पवाले घरमें नहीं सोवता है । जो कि आप दोषयुक्त होकर भी निर्दोष मनुष्यके अन्तःकरणको क्रोध कराता है ॥ ४० ॥ हे भरतवंशीय ! जिन दुष्टोंके विषे अपने योग क्षेमका दोष होवै अर्थात् जो कि दुष्ट अपनी आजीविकादिक दूर करसकते हों उनकी प्रसन्नता सदव देवताओंकी तरह करै ॥४१॥ जो कि धनादिक अर्थ स्त्रियोंके विषै वा मतवाले वा पतितोंके विषै रक्खे हुए हैं और जो कि दुर्जनोंके विषै रक्खे हैं वह समस्त संशयको प्राप्तहुए जानने अर्थात् कदाचित् ही वह धनादिक उनसे अपनेको मिलते हैं ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! जहां कि स्त्री वा जहां कि जुएबाज

प्रयोजनेषु ये सक्ता न विशेषेषु भारत ।
तानहं पण्डितान्मन्ये विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥ ४४ ॥
यं प्रशंन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः ।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ॥ ४५ ॥
हित्वा तान्परमेष्वासान्पाण्डवानामितौजसः ।
आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ॥ ४६ ॥
तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात्त्वमचिरादिव ।

वा जहां कि बालक शिक्षा करनेवाला होता है वह मनुष्य अवश हुए निश्चय ही डूबते हैं जिस प्रकार कि नदीमें पत्थरकी नाव डूबती है ॥ ४३ ॥ हे भारत ! जो कि जन प्रयोजनवाले कार्योंमें ही आसक्त रहते हैं न कि विशेष अर्थात् व्यर्थ कार्योंमें उनको मैं पंडित मानताहौं क्योंकि जो कि कारणके विना ही कार्य करते हैं वह व्यर्थ हैं ॥ ४४ ॥ जुएबाज जिसकी प्रशंसा करते हैं और दूतजन जिसकी प्रशंसा करते हैं और व्यभिचारिणी स्त्रियां जिसकी प्रशंसा करती हैं वह मनुष्य नहीं जीवता है ॥ ४५ ॥ बडे बडे श्रेष्ठ धनुषवाले और अतुल पराक्रमी ऐसे पांडवोंको त्यागकर हे भारत ! तुमने महत् ऐश्वर्य दुर्योधनके विषै रखदिया है ॥ ४६ ॥ तिससे तुम थोडे ही कालमें उसको ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हुआ देखलेवोगे जिस प्रकार कि,

ऐश्वर्यमदसंमूढं बलिं लोकत्रयादिव ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि
विदुरहितवाक्येऽष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥ (६)

धृतराष्ट्र उवाच ।

अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं
तस्माद्वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ॥ १ ॥

ऐश्वर्य मदसे प्रमत्तहुए बलिको तीनों लोकोंसे भ्रष्ट हुआ सब जगत् देखता हुआ ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये
श्रीपाठकवंशावतंसपंडितमंगलसेनात्मजकाशिरामविरचित-
भाषातिलकेऽष्टात्रिंशोध्यायः ॥३८॥ [६]

इतना सुन धृतराष्ट्र महाराज विदुरजीसे कहतेहुए, हे विदुरजी ! यह पुरुष ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य्य दोनोंमें इस प्रकार असमर्थ है जिस प्रकार कि सूतमें बांधी हुई काठकी बनी स्त्री असमर्थ होवै है क्योंकि यह विधाताने भाग्यको वशमें पहिलेसे ही करदिया हैं तिससे आप

विदुर उवाच ।

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ॥ २ ॥
प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मंत्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ ३ ॥
द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः ।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ॥ ४ ॥
उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन्दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम् ।

कहिये मैं कानमें धरता हौं ॥ १ ॥ तब विदुरजी महाराज कहनेलगे हे भारत ! जिसके कहनेका समय ही विद्यमान नहीं है उस वचनको कहतेहुए साक्षात् बृहस्पतिजी भी बुद्धिकी अवज्ञा और निरादरको प्राप्त हो सकते हैं ॥ २ ॥ दूसरा जन दान और प्रिय बोलनेसे प्रिय होसकता है । और दूसरा अन्य जन मंत्र और धनादि बलसे प्रिय होसकता है पर जो कि प्रिय है वह दान और प्रियवचन आदिके विना ही प्रिय रहता है ॥ ३ ॥ जो जिसका वैरी होता है वह यदि साधु और बुद्धिमान् तथा पंडित भी हो तब भी उसकी दृष्टिसे वह न साधु है न बुद्धिमान् है न पंडित है प्रियके विषै समस्त कार्य शुभ ही दीखते हैं और वैरीके विषै अच्छे भी कार्य अशुभ दीखते हैं ॥ ४ ॥ हे राजन् !

तस्यत्यागात्पुत्रशतस्यवृद्धिरस्यात्यागात्पुत्रशतस्यनाशः

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥ ६ ॥
न स क्षयो महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत् ॥७॥
समृद्धा गुणतः केचिद्भवन्ति धनतोऽपरे ।
धनवृद्धान्गुणैर्हीनान्धृतराष्ट्र विवर्जय ॥ ८ ॥

सम कि उत्पन्न ही हुआथा तभी मैंने आपसे कहा था कि तुम इस अकेले दुर्योधनको त्याग देवो उसके त्यागनेसे तुम्हारे सौ पुत्रोंकी वृद्धि होवैगी और उसके न त्यागनेसे तुम्हारे सौ पुत्रोंका नाश हो जायगा ॥ ५ ॥ वह वृद्धि बहुत नहीं माननी चाहिये जो वृद्धि नाशको प्राप्त कर देवै है और वह नाश भी नहीं मानना चाहिये जो नाश कि वृद्धिको प्राप्त करदेवै ॥ ६ ॥ हे महाराज ! वह नाश नहीं है जो नाश कि वृद्धिको प्राप्त करै वहांपर वह नाश मानना चाहिये जिसको पाकर बहुतोंको नाश करदेवै ॥ ७॥ कोई तौ गुणोंसे समृद्ध होतेहैं और कोई अन्यधनोंसे जो कि धनोंसे तौ समृद्ध हैं पर गुणोंसे हीन हैं उनको हे धृतराष्ट्रजी ! आप त्याग दीजिये ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसंमतम् ।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ९ ॥

विदुर उवाच ।

अतीव गुणसपंन्नो न जातु विनयान्वितः ।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ॥ १० ॥
परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च ।
परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ॥ ११ ॥

इतना सुन धृतराष्ट्रजी फिर विदुरजीसे बोले हे विदुरजी ! उत्तरकालमें हित करनेवाला और पंडितोंके माननेयोग्य वचन आप कह रहे हैं और यह भी सुन रक्खा है कि जहां धर्म होता है तहां जय। होवे है पर तब भी मैं पुत्रके त्यागनेको नहीं उत्साह करता हौं ॥ ९ ॥ तब विदुरजी बोले जो कि अतीव गुणोंसे तो सम्पन्न है पर विनयसे युक्त कदाचित् भी नहीं है और न प्राणियोंके अति थोडे भी अपराधको त्यागता है॥ १०॥ और जो कि परायी निन्दा और पराये दुःखोंके उदय होनेमें निरत हैं और जो कि निरन्तर उद्यम करतेहुए परस्पर विरोध करानेमें ही

सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद्भयम् ।
अर्थादाने महान्दोषः प्रदाने च महद्भयम् ॥ १२ ॥
ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः ।
ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः ॥ १३ ॥
युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत् ।
निवर्तमाने सौहार्दं प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ॥ १४ ॥

यत्न करते हैं ॥ ११ ॥ और जिनका दर्शन भी दोषयुक्त है और जिनके साथ संवाद करनेमें भी महत् भय होता है और उन्होंके धनादि लेनेमें तथा उनके लिये देनेमें भी महत् भय होता है ॥ १२ ॥ और जो कि परस्पर भेद करानेवाले हैं और जो कि कामी और निर्लज्ज तथा मूर्ख हैं और जो कि विख्यात पापी हैं और जो कि साथ वास करनेमें निंदित हैं और जो कि नर अन्य महादोषोंसे युक्त हैं उनको पंडित जन त्याग देवै ॥ १३ ॥ मित्रभाव निवृत्त होनेपर नीचजनके विषै प्रीति नष्ट होजाती है और जो कि मित्रभावमें फल सिद्धि और सुख होता है वह भी नष्ट होजाता है । भाव यह है कि जब कि नीचजनके साथ मित्रता नहीं रहती है तब ही नीचजन मित्रसे प्रीति दूर कर देता है और जो जो लाभ और सुख उससे मित्रभावमें होते हैं वह फिर मित्रभाव दूर होने पर नहीं रहते हैं ॥ १४ ॥

या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत्सुखम् ।
यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये ॥
अल्पेऽप्यपकृते मोहान्न शान्तिमधिगच्छति ॥ १५ ॥
तादृशैः सङ्गतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ।
निशम्य निपुणं बुद्ध्या विद्वान्दूराद्विवर्जयेत् ॥ १६ ॥
यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् ।
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते ॥ १७ ॥
ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्य इच्छन्त्यात्मनः शुभम् ।
कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात्साधु समाचर ॥ १८ ॥

किंतु वह नीच थोडेसे ही अपकार होनेपर मित्रकी निन्दाके लिये ही यत्न करता रहता है और उस मित्रके नाशके निमित्त भी यत्न आरम्भ करता है और मोहसे शांतिको नहीं प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ इस कारण तादृश नीच और क्रूर तथा अकृतात्मा जनोंके साथ संगतिको औरोंसे सुनकर तथा स्वयं जानकर विद्वान् दूरसे ही त्याग देवै॥१६॥ जो कि अपनी जातिवाले दरिद्र तथा दीन और रोगीजनको अनुगृहीत करता है वह पुत्र पशुओंकर वृद्धि और अनन्त कल्याणको भोगता है ॥ १७ ॥ जो कि जन आत्माका कल्याण चाहते हैं उनको

श्रेयसा योक्ष्यते राजन्कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम् ॥ १९॥
विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ।
किं पुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणः ॥ २० ॥
प्रसादं कुरु वीराणां पाण्डवानां विशांपते।
दीयन्तां ग्रामकाः केचित्तेषां वृत्त्यर्थमीश्वर ॥ २१ ॥
एवं लोके यशः प्राप्तं भविष्यति नराधिप।
वृद्धेन हि त्वया कार्यं पुत्राणां तात शासनम् ॥ २२॥
मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम्।

अपने जातिवाले जन बढानेयोग्य हैं तिससे हे राजेन्द्र ! कुलकी वृद्धि अच्छी प्रकार करिये॥ १८ ॥ हे राजन् ! जातिवालेका सत्कार करता हुआ जन कल्याण युक्त होवैगा इसमें कुछ संशय नहीं॥१९॥ हे भरतर्षभ ! गुणवर्जित भी जातिवाले रक्षा करने योग्य हैं फिर क्या कारण जो कि तुम्हारी प्रसन्नताकी कांक्षा करनेवाले और गुणवान् वह पांडव जन रक्षा करने योग्य नहीं ॥ २० ॥ इससे हे विशाम्पते ! वीर पांडवोंकी प्रसन्नता करिये। हे ईश्वर ! उनकी वृद्धिके लिये कुछ थोडेसे ग्राम तुम कर दीजिये ॥ २१ ॥ हे नराधिप ! ऐसा करनेसे तुमको संसारमें यश प्राप्त होवैगा। हे तात ! वृद्धने अपने पुत्रोंपर आज्ञा करनी योग्य है ॥ २२ ॥ मेरे कहेहुए वचनको हितकारक

ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्तव्यः शुभार्थिना ।
सुखानि सहभोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ॥ २३ ॥
संभोजनं संकथनं संप्रीतिश्च परस्परम् ।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ॥ २४ ॥
ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥ २५ ॥
सुवृत्तो भव राजेन्द्र पाण्डवान्प्राति मानद ।
अधर्षणीयः शत्रूणां तैर्वृतस्त्वं भविष्यसि ॥ २६ ॥

जानिये और मुझको अपना हितैषी समझिये । हे तात ! जातिवालोंके साथ विरोध कल्याण चाहनेवालेको नहीं करना चाहिये किन्तु हे भरतर्षभ ! जातिवालोंके साथ सुख भोगने चाहिये ॥ २३ ॥ परस्पर भोजन और परस्पर कथन और परस्पर प्रीति यह जातिवालोंके साथ करने चाहिये । और विरोध कदाचित् भी न करना चाहिये ॥ २४ ॥ इस संसारमें जातिवाले ही तारदेते हैं और जातिवाले ही डुबादेते हैं । उनमें जो सुन्दर आचारवाले होते हैं वह तारदेते हैं और दुराचारी डुबादेते हैं ॥ २५ ॥ इससे हे राजेन्द्र ! पाण्डवोंके प्रति श्रेष्ठआचारवाले हूजिये । हे मानद ! उन पाण्डवोंसे युक्तहुए तुम वैरियों करके तिरस्कार करनेयोग्य नहीं होवोगे अर्थात् पाण्डवोंके साथ रहनेमें तुम्हारे

श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति।
दिग्धहस्तं मृग इव स एनस्तस्य विन्दति ॥ २७ ॥
पश्चादपि नरश्रेष्ठ तव तापो भविष्यति।
तान्वा हतान्सुतान्वापि श्रुत्वा तदनुचिन्तय ॥ २८ ॥
येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा।
आदावेव न तत्कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥ २९ ॥
न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात्।

वैरी तिरस्कार नहीं करसकेंगे ॥ २६ ॥ सम्पत्तिवाले ज्ञातिको प्राप्त होकर जो ज्ञाति कष्ट पाता हैं वह सम्पत्तिवाला ज्ञाति उसके पापको प्राप्त होता है जिस प्रकार कि जिसके हाथमें विषका सनाहुआ बाण है उसको मृग प्राप्त होजाता है। भाव यह है कि जैसे व्याध मृगको मारदेता है तैसे ही कष्ट पानेवाले ज्ञातिके पापसे सम्पत्तिवाला ज्ञाति पीडित होता है ॥ २७ ॥ हे नरश्रेष्ठ ! उन पाण्डवोंके हाथ अपने पुत्रोंको मरा सुन उनकी चिन्ता कर तुमको पिछारी सन्ताप होवैगा ॥ २८ ॥ जिस कर्मकर कि खट्वापर चढ चिन्ताके स्थानमें बैठा हुआ संतप्त होता है उस कर्मको पहिले ही नाशवान् जीवितके निमित्त न करै ॥ २९ ॥ नीतिशास्त्रके करनेवाले शुक्राचार्य्यके विना कोई नहीं अनीति करता है यह बात नहीं किन्तु सब ही अनीति

शेषसंप्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥ ३० ॥
दुर्योधनेन यद्येतत्पापं तेषु पुरा कृतम् ।
त्वया तत्कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ॥ ३१ ॥
तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः ।
भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ॥ ३२ ॥
सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिंत्य यः ।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३३ ॥
असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि ।

करते हैं पर शेष रहेकी सिद्धि बुद्धिमानोंके विषै स्थित रहती है । इस कथनसे विदुरजीने यह जनाया कि जो आपकी की हुई अनीति बीतगई तो बीतगई पर इससे आगे अनीतिके न करनेमें आपको यत्न करना चाहिये ॥ ३० ॥ हे नरेश्वर ! जो कि यह पाप दुर्योधनने उन पाण्डवोंके विषै पहिले किया है वह पाप तुम कुलवृद्धकर मिटाना चाहिये ॥ ३१ ॥ हे नरश्रेष्ठ ! उन पांडवोंको राज्यपदपर बैठाकर निष्पापहुए बुद्धिमानोंके पूजनेयोग्य होवोगे ॥ ३२ ॥ जो कि धीरजनोंके सुन्दर कहेहुए वचनोंको अर्थसे विचार करके कार्योंके विषै उत्साह करता है वह बहुतकाल पर्यन्त कीर्त्तिमें स्थित रहता है ॥ ३३ ॥ पण्डितोंकर उपदेश किया हुआ ज्ञान व्यर्थ ही

उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ॥ ३४ ॥
पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्धते ॥ ३५ ॥
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते ॥ ३६ ॥
अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ।
मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत् ॥ ३७॥
अर्थसन्ततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ।
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम् ॥ ३८ ॥
दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि ।
द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप ॥ ३९ ॥

होजाता है जब कि जाननेयोग्य होकर भी नहीं जानागया है और जाना हुआ भी व्यर्थ होजाता है जब कि नहीं सेवन किया है ॥ ३४ ॥ जिसका कि फल पापके उदय करनेवाला है उस कर्मको जो विद्वान् है वह नहीं आरम्भ करता है ॥ ३५ ॥ वह वृद्धिको प्राप्त होता है । जो कि पूर्व कियेहुए पापको नहीं विचारकर पापको ही निरन्तर करतारहता है ॥ ३६ ॥ वह कुबुद्धि गहरी कीचवाले विषम नरकमें गिराया जाता है, मन्त्रके भेद होनेके छः द्वार हैं इनको बुद्धिमान् जन जानता है ॥ ३७ ॥ इन मन्त्रके भेद होनेके छः द्वारोंको सदैव ही अर्थ वृद्धिकी इच्छावाला रक्षा करै एक मदिरापान, दूसरी अतिनिद्रा, तीसरा दूसरेके गुप्त दूतके हृदयकी वार्ताका न जानना, चौथी अपनी

त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ।
न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा ॥
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ ४० ॥
नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति ॥ ४१ ॥
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनाग्निकम् ॥ ४२ ॥
मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्धया संपाद्य चासकृत् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ॥ ४३ ॥

नेत्रमुख विकारादि चेष्टा, पांचवां दुष्ट मन्त्रियोंके विषै विश्वास, छठा जो दूत कि चतुर न होवै उससे विश्वास होना ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ हे नृप ! इन छः द्वारोंको जानकर जो सदैव मूँदतारहता है वह धर्मार्थकामके सेवन करनेमें युक्तहुआ जन शत्रुओंके ऊपर स्थित होता है। शास्त्रको न जानकर और वृद्धोंको न सेवन कर बृहस्पतिके समान भी जनोंके धर्म और अर्थ यह दोनों जाननेके नहीं समर्थ होते हैं ॥४०॥ समुंद्रमें गिराहुआ नष्ट होता है और नहीं सुननेवालेके विषै वाक्य नष्ट होता है और निर्बुद्धिके विषै शास्त्र नष्ट होता है और निरग्नि हवन कियाहुआ नष्ट होता है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ प्रथम बुद्धिसे परीक्षा कर फिर बुद्धिसे बारंबार२उसके तत्त्वको विचारकर और दूसरोंसे सुनकर और दृष्टि देखकर और स्वयं जानकर पण्डितजनोंके साथ मित्रता

अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
हन्ति नित्यं क्षमाक्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ४४ ॥
परिच्छेदनक्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया ।
परीक्षेत कुलं राजन्भोजनाच्छादनेन च ॥ ४५ ॥
उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते ।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥ ४६ ॥
प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ॥ ४७ ॥

करै ॥ ४३ ॥ विनय अकीर्तिका नाश करदेवै है और पराक्रम अनर्थका नाश करदेता है और क्षमा सदैव क्रोधका नाश करदेती है । और आचार कुलक्षणका नाश करदेता है ॥ ४४ ॥ भोगनेयोग्य वस्तु सामग्री और क्षेत्र और गृह और सेवा और भोजन और वस्त्र इनसे कुलकी परीक्षा करै ॥ ४५ ॥ जब कि निर्मुक्त देह अर्थात् त्यागेहुए देहाभिमान विरक्तको ही स्वय प्राप्तहुए अभीष्ट पदार्थका त्याग करदेना नहीं है तो फिर क्या कहना है कि जो कामरक्त अर्थात् इच्छा करनेवालेको स्वयं प्राप्तहुए अभीष्ट पदार्थका त्याग करना न होवै तो ॥ ४६ ॥ विद्वानोंकी सेवा करनेबाला और वैद्य अर्थात् विद्यावाला और धर्मात्मा और प्रियदर्शन वाला और सुन्दर मित्रवाला और अच्छे बोलनेवाला ऐसे मित्रकी सदैव रक्षा 'करै ॥ ४७ ॥

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लङ्घयेत् ।
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान्स कुलीनशताद्वरः ।
ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा ।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ॥ ४८ ॥
दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव ।
विवर्जयीत मेधावी तस्मिन्मैत्री प्रणश्यति ॥ ४९ ॥
अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च ।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद्बुधः ॥ ५० ॥

दुष्कुलीन हो वा कुलीन हो जो कि मर्यादाको उलंघन न करै और धर्मको चाहनेवाला तथा कोमलस्वभाव और लज्जावान् हो वह सौ कुलीनोंसे भी श्रेष्ठ होता है जिन दोनोंके मध्य चित्तसे चित्त और गुप्तमन्त्रादिसे गुप्तमन्त्रादिक और बुद्धसे बुद्धि समान मिलती हो उन दोनोंकी मित्रता कदापि नहीं दूर होती है ॥ ४८ ॥ जो कि दुर्बुद्धि है और कियेहुए उपकारको नहीं जानता है और छल छिद्रादिकसे इस प्रकार ढका रहता है जिस प्रकार कि तृणोंसे कूपऐसे जनको बुद्धिमान् लोग त्याग देवैं क्योंकि उसके विषै कीहुई मित्रता नष्ट होजाती है ॥ ४९ ॥ जो कि, अति गर्विष्ठ और मूर्ख तथा क्रोधी और नहीं विचारकर कार्य करनेवाले हैं और जिन्होंने धर्म त्यागदिया है उनके विषै पण्डित जन मित्रता न करैं ॥ ५० ॥

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम्।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते॥५१॥
इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद्दैवतानपि॥ ५२ ॥
मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः।
आयुष्याणि बुधाःप्राहुर्मित्राणां चाविमानता॥ ५३ ॥
अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते।
मतिमास्थाय सुदृढं तदकापुरुषव्रतम्॥ ५४ ॥

जो कि किये उपकारके जाननेवाला है और धर्मात्मा है और सत्य-बोलनेवाला और क्षुद्रताहीन और दृढ भक्तिवाला है और जिसने इन्द्रिय जीतरक्खे हैं और जो कि मर्यादामें स्थित है और त्याग करनेवाला भी नहीं है ऐसा मित्र सबकर इच्छा कियाजाता है॥ ५१ ॥ इंद्रियोंका विषयोंसे निवृत्त करना मृत्युसेभी विशेष है अर्थात् इंद्रियोंका विषयोंसे रोकना मृत्युके कष्टसे भी अधिक कष्टकारक है। पर जो कि अत्यन्त इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्ति करता है वह देवताओंका भी नाश करदेता है॥ ५२ ॥ कोमलस्वभाव होना और समस्त प्राणियोंकी निन्दा न करना और सहनशील होना और धैर्य और मित्रोंका अपमान न करना यह समस्त आयुके बढानेवाले हैं ऐसा पंडित जन कहते हैं॥ ५३ ॥ जो कि अन्यायकर नाशहुए धनको अच्छी दृढ-

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढ निश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥ ५५ ॥
कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते ।
तदेवापहरत्येनं तस्मात्कल्याणमाचरेत् ॥ ५६ ॥
मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम् ।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥ ५७ ॥
अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च ।
महान्भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्तमश्नुते ॥ ५८ ॥

बुद्धिको आश्रय कर न्यायसे फिर लेनेकी इच्छा करता है सो यह सत्पुरुषोंका व्रत है ॥ ५४ ॥ जो आनेवाले कालके विषै करनेयोग्य कार्यके उपायको जानता है और व वर्तमानकालके विषै आरम्भ किये कार्यमें जिसका निश्चय दृढ रहता है और व्यतीतकालमें शेष रहे कार्यके जाननेवाला है वह नर धनादिकोंसे कदापि नहीं हीन होता है॥५५॥ कर्म और मन और वाणीसे जिस कर्मका सदाही सेवन करता है वह कर्म उसको अपनी तरफ हरण करलेता है तिससे मनुष्य शुभकर्मकाही सेवन करै ॥ ५६ ॥ मङ्गल पदार्थोंका स्पर्श करना और योगनाम-चित्तका एकाग्र करना और शास्त्राभ्यास और उद्यम और कोमल स्वभाव रखना और सज्जनोंका सदैव दर्शन करना ये ऐश्वर्य करते हैं ॥ ५७ ॥ अनिर्वेद अर्थात् उद्यम लक्ष्मीका और लाभका और शुभका मूल है उद्यम

नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत्पथ्यतमं मतम् ।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥ ५९ ॥
क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान्धर्मकारणात् ।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ॥ ६० ॥
यत्सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥ ६१ ॥
दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च ।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥ ६२ ॥

करनेवाला ही धनादिकोंसे महान् होजाता है और अनन्त सुख भोगता है ॥ ५८ ॥ हे तात ! समर्थ होनेवालेकी जैसी कि क्षमा सब कालमें और सब जगह हितकारक होवैहै इससे अन्य कुछ भी अत्यन्त सुन्दर और अतीव हितकारक उपाय कविजनोंने नहीं माना है ॥ ५९ ॥ असमर्थ तौ सबके ही ऊपर क्षमा करै और सामर्थ्यवान् धर्मके कारण क्षमा करै । और जिसके अर्थ और अनर्थ दोनों समान ही हैं उसको भी क्षमा ही सदा हितकारक जाननी ॥ ६० ॥ जिस सुखके सेवा करनेवाला जन धर्म और अर्थ इन दोनोंसे नहीं भ्रष्ट होता है उस अभीष्ट सुखका सेवन करलेवै और मूढव्रतको न सेवन करै अर्थात् सर्वथा भोजनादिका त्याग न करै ॥ ६१ ॥ जो कि दुःखार्त्त हैं और जो कि मतवाले रहते हैं और जो कि नास्तिक और आलसी हैं और

आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात्सव्यपत्रपम् ।
अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ॥ ६३ ॥
अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम् ।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥ ६४ ॥
न चातिगुणवत्स्वेषा नात्यन्तं निर्गुणेषु च ।
नैषा गुणान्कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते ।
उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते ॥ ६५ ॥
अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।

जो कि अदान्त नाम इंद्रिय जीतनेवाले नहीं हैं और जो कि उत्साहसे वर्जित हैं उनके विषै लक्ष्मी नहीं वसती है ॥ ६२ ॥ जो कि अपने सरलस्वभावसे युक्त रहता है और सरलस्वभाव होनेसे ही लज्जायुक्त रहता है उस नरको कुबुद्धिजन असमर्थ मानतेहुए अनादर करने लगते हैं ॥ ६३ ॥ जो कि अतीव श्रेष्ठ हैं और जो कि अतीव दानी हैं और जो कि अतीव शूर वीर हैं और जो कि अतीव व्रतवाले हैं और जो कि बुद्धिके अभिमान करनेवाले हैं अर्थात् अतीव बुद्धिमान् हैं उनके समीप लक्ष्मी भयसे नहीं जाती है ॥ ६४ ॥ यह लक्ष्मी न तौ अतीव गुणोंवालोंके ही विषै रहती है और न अतीव निर्गुणोंके विषै रहती है न यह लक्ष्मी गुणोंकी कामना करतीहै और न निर्गुण होनेसे अनुरागको प्राप्त होती है किन्तु उन्मत्त अन्धी गौके समान कहीं २ स्वयं ही स्थित होजाती है ॥ ६५ ॥ वेद वह हैं जिनका कि

रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ ६६ ॥
अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदैहिकम्।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुङ्क्तेऽर्थस्य दुरागमात् ॥ ६७ ॥
कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु संभ्रमे।
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्त्ववतां भयम् ॥ ६८ ॥
उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः।
समीक्ष्य च समारंभो विद्धि मूलं भवस्य तु ॥ ६९ ॥

फल अग्निहोत्र है और शास्त्र वह है जिसका कि फल शील और आचार है और स्त्री वह है जिसका कि फल रति और पुत्र है और धन वह है जिसका कि फल भोग करना और दान करना है ॥ ६६ ॥ जो कि अधर्मसे इकट्ठे कियेहुए धनोंसे और्ध्वदैहिक अर्थात् परलोक साधन यज्ञादि करता है वह पुरुष मरकर परलोकमें उस यज्ञादिका फल धनके खोटे कर्मसे मिलनेके कारण नहीं भोगता है ॥ ६७ ॥ कान्तार नाम बडे भारी वनोंमें और वनसे घिरेहुए दुर्गमस्थानोंमें और कष्ट और आपदाओंमें और सम्भ्रममें और उद्यतहुए शस्त्रोंके विषै धैर्यवाले जनोंको भय नहीं होता है ॥ ६८ ॥ उत्थान नाम उद्योग और संयम नाम इंद्रियोंका जीतना और दाक्ष्य नाम चतुरता और अप्रमाद नाम प्रमत्त न रहना और धृति नाम धैर्य और स्मृति नाम पूर्व देखे सुने कहेका अनुसन्धान और विचार कर कार्यका आरम्भ करना इनको

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७० ॥
अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः ।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥ ७१ ॥
न तत्परस्य संदध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः ।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात्कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ७२ ॥
अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम् ॥ ७३ ॥

हे राजन् ! तुम ऐश्वर्यका मूल जानिये ॥ ६९॥ तपस्वियोंका बल तप है और वेदवेत्ताओंका बल वेद है और असाधुओंका बल हिंसा है और गुणवानोंका बल क्षमा है ॥ ७० ॥ जो कि आठ वस्तु व्रतके नाश करनेवाले नहीं होते हैं वह यह हैं एक तौ जल दूसरा मूल तीसरा फल चौथा दूध पांचवां घृत छठी ब्राह्मणकी इच्छा सातवां गुरुका वचन आठवां औषध ॥ ७१ ॥ जो कि कर्म अपने आत्माको प्रतिकूल हो उस कर्मके करनेको दूसरेको भी न सलाह देवै यह धर्म संग्रह कर होता है और अन्य धर्म इच्छासे प्रवृत्त होता है अर्थात् यह धर्म निष्काम है और अन्य धर्म सकाम है ॥ ७२ ॥ अक्रोधसे क्रोधको जीतै और सत्य-कर्मसे असत्यकर्मको जीतै और दानसे कृपणताको जीतै और सत्यसे

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि ।
चौरे कृतघ्ने विश्वासी न कार्यो न च नास्तिके ॥ ७४ ॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि संप्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशोबलम् ॥ ७५ ॥
अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ७६ ॥
अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ।
निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राष्ट्रमराजकम् ७७॥

झूठ जीतै ॥ ७३ ॥ स्त्री और धूर्त्तके (जुएबाज) और आलसी और डरपनेवाला और चण्ड नाम अतीव क्रोधी और अपनेको पुरुष माननेवाला और चोर और उपकारके न माननेवाला और नास्तिक इनके विषै विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ७४ ॥ उत्तमजनोंको प्रणाम करनेका है स्वभाव जिसका ऐसे सदैव वृद्ध जनोंकी सेवा करनेवाले जनके चार पदार्थ बढते हैं एक तो कीर्ति दूसरा आयु तीसरा धन चतुर्थ बल ॥ ७५ ॥ जो कि अर्थ अत्यन्त क्लेश और धर्मके उल्लंघनसे और शत्रुके आगे नम्र होनेसे होतेहों उन अर्थोंके विषै हे राजन् ! अपना मन मतकरिये ॥ ७६ ॥ जो पुरुष कि विद्याहीन है वह शोच करनेयोग्य है । और जो कि मैथुन सन्तानवर्जित है वह शोच करनेयोग्य है और कि प्रजा भोजनसे वर्जितहुई रहती है अर्थात् भूंखी रहती है वह

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।
असंभोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा ॥ ७८ ॥
अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ॥ ७९ ॥
मलं पृथिव्या बाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम् ।
कौतूहलमला साध्वी विप्रवासमलाः स्त्रियः ॥८० ॥
सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ॥ ८१ ॥
न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत्स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥ ८२ ॥

शोचने योग्य हैं । और जो कि राज्य राजाहीन है वह शोचने योग्य है ॥ ७७ ॥ देहधारियोंका बुढापा मार्ग है और पर्वतोंका बुढापा जल है और स्त्रियोंका बुढापा असंभोग है और मनका बुढापा वाक्शल्य अर्थात् दुर्वचन है ॥ ७८ ॥ वेदोंका मल अनभ्यास है और ब्राह्मणका मल अनाचार है ॥ ७९ ॥ और पृथिवीका मल बाल्हीकदेश है और पुरुषका मल झूंठ है और पतिव्रतास्त्रियोंका मल कौतूहल अर्थात् कटाक्षहास्यादि क्रीडा है और सर्व स्त्रियोंका मल परगृहादिकमें वास करना है ॥८०॥ सुवर्णका मल चांदी और चांदीका मल रांग जाननेयोग्य है और रांगका मल सीसा और सीसाका भी मल मैल है ॥८१॥निद्रासे

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः ।
अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ॥ ८३ ॥
सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुंचेच्छां न कथंचिन्न जीव्यते ॥ ८४ ॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति ॥ ८५ ॥
राजन्भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर ।

जन निद्राको नहीं जीतसकता है और कामसे स्त्रियोंको नहीं जीतसकता है और ईंधनसे अग्निको नहीं जीतसकता है और मदिरापानसे मदिराको नहीं जीतसकता है ॥८२॥ जिसके दानसे जीतेहुए मित्र हैं और युद्धमें जीतेहुए शत्रु हैं और अन्नपानसे जीतीहुई स्त्रियां हैं उसका जीवन सफल है ॥ ८३ ॥ हे धृतराष्ट्र ! जबतक कि मृत्यु ही है तबतक हजारवाले भी जीते हैं और सौवाले भी जीते हैं इससे इच्छाको त्यागदीजिये यदि इच्छाको न त्यागोगे तौ भी किसीप्रकार तुम्हारा नहीं जीवन होसकता है ॥ ८४ ॥ जो कि पृथिवीपर धान यव सुवर्ण पशु स्त्रियां हैं वह सर्व इच्छा करनेवाले एकके ही भोगनेको परिपूर्ण नहीं होसकती ऐसा देखताहुआ विद्वान् नहीं मोहित होताहै ॥ ८५ ॥ हे राजन् ! तुमसे फिर हम कहते हैं कि, पुत्रोंके विषै समान

समता यदि ते राजन् स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ॥ ८६ ॥
इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥ [७]

विदुर उवाच ।

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः
करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा ।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्तः
मलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः ॥ १ ॥

वर्तिये जिससे कि हे राजन् ! तुम्हारे निज पुत्रोंमें और पांडवोंमें समता होजावै ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये श्रीपाठकवंशावतंस–पण्डितमंगलसेनात्मजकाशिरामविरचित भाषातिलके एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥ [७]

इसके अनन्तर फिर विदुरजी महाराज कहनेलगे हे राजन् ! जो कि सज्जनोंकर सत्कार कियाहुआ अभिमान रहित जन शक्तिके अनुसार अर्थ करता है उस सज्जनके प्रति कीर्ति शीघ्र ही आकर प्राप्त होजाती है । यदि ऐसे सज्जन जिसपर प्रसन्न होजातेहैं उसके लिये सुख

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं
यः सन्त्यजत्यनपाकृष्ट एव।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते
जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ॥ २ ॥

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ३ ॥
असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥ ४ ॥
आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च।

देनेको समर्थ होते है ॥ १ ॥ जो अर्थ कि बडाभारी भी है पर धर्मसे युक्त नहीं है ऐसे अर्थको जो सज्जन दूसरोंको नहीं पराजितहुआ भी त्यागदेता है वह अति दुःखोंको छोडकर सुखपूर्वक सोवता है जिस प्रकार कि पुरानी त्वचाको त्यागकर सर्प सुखपूर्वक सोवता है ॥ २ ॥ झूठमें अतीव उत्कर्ष अर्थात् अधिकता और राजातक जानेवाली चुगली और गुरुजनोंसे झूंठका हठ यह ब्रह्महत्याके समान है ॥ ३ ॥ मृत्युका एक पद निन्दा है और अतिवाद नाम कठोर वचन लक्ष्मीका नाशक है और असेवा और संभ्रम तथा अनभ्यास यह तीन विद्याके शत्रु हैं ॥ ४ ॥ आलस्य और मद मोह और चपलता और गोष्ठि और

एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥ ५ ॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ॥ ६ ॥
नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ७ ॥

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः
क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता ।
अपालनं हन्ति पशूंश्च राज-
न्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥ ८ ॥

ढीठता और अभिमान और लुब्धता यह सात दोष सदैवही विद्यार्थियोंके त्यागनेके लिये विद्वानोंने माने हैं ॥ ५ ॥ सुख चाहनेवालेको विद्या कैसे होसकती है ? और विद्या चाहनेवालेको सुख नहीं होता है जो सुखके चाहनेवाला है तो विद्याको त्यागदेवै और विद्याको चाहनेवाला है तो सुखको त्यागदेवै ॥ ६ ॥ काष्ठोंसे अग्नि नहीं तृप्त होसकताहै और नदियोंसे समुद्र नहीं तृप्त होसकताहै और सर्व प्राणियोंके मारनेसे काल नहीं तृप्त होसकता है और पुरुषोंके भोगनेसे स्त्री नहीं तृप्त होसकतीहै ॥ ७ ॥ हे राजन् ! आशा धृति नाम धैर्यको नाश करदेती है, काल समृद्धिको नाश करदेता है क्रोध लक्ष्मीको नाश करदेता है, कृपणता कीर्तिको नाश करदेतीहै, नहीं पालन

अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं
मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन
एतानि ते सन्तु गृहे सदैव ॥ ९ ॥

अजोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी ।
विषमौदुम्बरं शङ्खः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ॥ १० ॥
गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत् ।
देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ॥ ११ ॥

करना पशुओंको नाश करदेताहै और क्रुद्धहुआ ब्राह्मण राजाको नाश करदेता है ॥ ८ ॥ हे महाराज ! अजा नाम छागी और कांसी और चांदी और सहत और पांशा और पक्षी और वेदपढनेवाला और वृद्धज्ञाति और अवसन्न कुलीन यह तुम्हारे घरमें सदैव रहें ॥ ९ ॥ अज नाम छाग और उक्षन् नाम बैल और चन्दन और वीणा और दर्पण और सहत और घृत और विष और तांबा और शंख और स्वर्णनाभ नाम गण्डकी नदीसे उत्पन्न हुई प्रतिमा और रोचना अर्थात् रोली ॥ १० ॥ हे भारत ! देवब्राह्मणोंकी पूजाके लिये और अतिथियोंकी पूजके लिये यह घरमें स्थापित करनेयोग्य है इनको मनु महाराज भी धनकी वृद्धि करनेवाले कहते

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि
पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम् ।
न जातु कामान्न भयान्न लोभा-
द्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥ १२ ॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
त्यक्त्वाऽनित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये
सन्तुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥ १३ ॥
महाबलान्पश्य महानुभावान्
प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम् ।

हुए ॥ ११ ॥ हे तात ! सबमें उत्तम और अतीव श्रेष्ठ तथा पुण्य प्राप्त करनेवाला यह वचन मैं तुमसे कहताहूं न तो कामसे और न भयसे और न लोभसे और न जीवितके कारण कदाचित् भी नहीं धर्मका त्याग करै ॥ १२ ॥ धर्म नित्य है और सुखदुःख दोनों अनित्य हैं और भोगनेवाला जीव नित्य है और इस जीवका हेतु शरीरादि अनित्य है इससे अनित्यको त्यागि नित्यके ऊपर स्थित हूजिये और आप सन्तोष करिये क्योंकि सन्तोष परमलाभ है॥ १३॥ हे राजन् ! बडे २ प्रभाववाले महाबली राजाओंको देखिये

राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान्
गतान्नरेन्द्रान् वशमन्तकस्य ॥ १४ ॥
मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या
उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति
चितामध्यये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥ १५ ॥
अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुंक्ते
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्टयमानः ॥ १६ ॥

कि जो धनधान्यसे परिपूर्ण हुई पृथिवीका पालन करके राज्य और विपुल भोगोंको त्यागि कालके वश चलेगये ॥ १४ ॥ हे राजन् जो कि बडे दुःखोंसे पुष्ट किया है ऐसे मृतकपुत्रको उठाकर मनुष्य अपने घरोंसे निकालकर लेजातेहैं और उसको पीछे मुक्तकेश अर्थात् बालोंके लट छोडेहुए करुणापूर्वक रोवते हैं. और चितामध्यमें काष्ठकी समान उसको जलनेके लिये डालदेते हैं ॥१५॥ उस प्रेतभावको प्राप्तहुए मृतकके धनको और ही भोगता है और उसके शरीरधातुओंको पक्षी वा अग्नि भक्षण करलेताहै केवल वह मृतक पुण्य और

उत्सृज्य विनिवर्तंते ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात पतत्रिणः ॥ १७ ॥
अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयंकृतम् ।
तस्मात्तु पुरुषो यत्नाद्धर्मं संचिनुयाच्छनैः ॥ १८ ॥
अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो
महत्तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम् ।
तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां
बुध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ॥ १९ ॥

पापसे वेष्टितहुआ दोही पुण्यपापोंके साथ परलोकमें जाता है ॥१६॥ हे तात ! जिस प्रकार कि विना फूल और फलोंवाले वृक्षोंको पक्षी त्यागदेतेहैं तिसी प्रकार जातिवाले और मित्र तथा पुत्र उस मृतकको त्यागकर लौट आतेहैं ॥ १७ ॥ अग्निमें जलनेके लिये डालेहुए उस मृतक पुरुषके पिछारी अपना कियाहुआ कर्म चलताहै तिससे पुरुष सदैव यत्नसे सावधानतापूर्वक धर्मका संचय करताहै ॥ १८ ॥ हे राजन् ! इस लोकसे ऊपर और इसके नीचे जो कि बडाभारी अन्धकार है उस अन्धकारको इन्द्रियोंका अतीव मोह करनेवाला ज्ञानियों वह अन्धकार अशुभ कर्म करनेसे तुमको न प्राप्त होवै॥ १९॥

इदं वचः शक्ष्यसि चेद्यथाव-
न्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव ।
यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके
भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥ २० ॥
आत्मा नदी भारतपुण्यतीर्था
सत्योदया धृतिकूला दयोर्मिः ।
तस्यां स्नातःपूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नियतमलोभ एव ॥ २१ ॥
कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ २२ ॥

हे राजान् ! यदि इन मेरे कहेहुए समस्त वचनोंको यथावत् सुनकर जाननेको समर्थ होवोगे तौ मनुष्य लोकमें परम कीर्ति पावोगे ! और न इस लोकमें न परलोकमें तुमको भय रहैगा ॥ २० ॥ हे भारत ! आत्मा नदीरूप है, उस नदीमें पुण्यरूप जल है और जिसका उत्पत्तिस्थान सत्य है और जिसके आसपासका किनारा धैर्य है. और जिसकी लहर दया है उस नदीमें स्नान करता हुआ पुण्यकर्मवाला जीव पवित्र होजाता है. क्योंकि जो कि आत्मा, निर्लोभ है वह सदैव ही पवित्र रहता है ॥ २१ ॥ पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं जल जिसमें ऐसी

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं
विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम् ।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य
यः संपृच्छेन्न स मुह्येत्कदाचित् ॥ २३ ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥ २४ ॥

कामक्रोधरूप बडे २ ग्राहोंवाली नदीके प्रति धैर्यरूप नाव बनाकर जन्म, मरण, जरा, व्याधि, शोक, दुःखादिरूप दुर्गम स्थानोंको तरजाइये ॥ २२ ॥ जो कि अपने जातिवाला बुद्धिसे बडा है अथवा धर्म करनेमें बडाहै अथवा विद्यामें बडाहै वा अवस्था करके वडाहै उससे सत्कार और प्रसन्न कर कार्य और अकार्य दोनोंमें जोकि सलाह पूछता है वह कदाचित् भी नहीं भ्रष्ट होताहै ॥ २३ ॥ धैर्यसे शिश्न और उदरको जीतै और नेत्रसे हाथ और पांवको जीतै मनसे नेत्र और कानको जीतै और कर्मसे मन और वाणीको जीतै भाव यह है कि काम और भूख इन दोनोंको धैर्यसे जीत कर दोषसे रक्षा करै और भली प्रकार देखि वस्तुके ग्रहण करनेकर हाथकी रक्षा करै और दृष्टिसे पवित्र किये स्थलपर पदके रखनेकर पांवकी रक्षा करै और परस्त्री आदिकोंसे निवृत्ति करनेकर नेत्रकी रक्षा करै

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।
सत्यं ब्रुवन्गुरवे कर्म कुर्वन्न
ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥ २५ ॥
अधीत्य वेदान्परिसंतीर्य चाग्नी-
निष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च ।
गोब्राह्मणार्थं शस्त्रपूतांतरात्मा
हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥ २६ ॥

और निन्दितशब्दोंसे निवृत्ति करनेकर कानकी रक्षा करै और कर्मसे मन और वाणी इन दोनोंकी रक्षा करै ॥ २४ ॥ नित्योदकी अर्थात् सदैव यथाकाल स्नानादि करनेवाला और सदैव यज्ञोपवीत धारण करनेवाला और सदैव वेदके अभ्यास करनेवाला और पतितजनोंके अन्नके त्यागनेवाला और गुरुके लिये सत्य कहनेवाला और श्रौत स्मार्त कर्म करनेवाला ऐसा ब्राह्मण ब्रह्मलोकसे नहीं भ्रष्ट होता है ॥ २५ ॥ वेदोंको पढकर और अग्निओंका विस्तार कर और यज्ञोंसे देवताओंका यजन कर और प्रजाओंका पालन कर जोकि गौ और ब्राह्मणके अर्थ शस्त्रसे पवित्रहुए अन्तःकरणवाला क्षत्रिय संग्राममें वध्य

वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च
धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च ।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥ २७ ॥
ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः-
क्रमेणैतान्न्यायतः पूजयानः ।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप-
स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङ्क्ते ॥ २८ ॥
चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो
हेतुं चानुब्रुवतो मे निबोध ।

होता है वह स्वर्गको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ वेदोंको पढकर और समय २ पर ब्राह्मण और क्षत्रिय और आश्रित जनोंको धन बांट-कर और यज्ञके तीनों अग्निओंसे पवित्रहुए पुण्यदायक धूमको सूंघकर वैश्य मरकर स्वर्गमें दिव्यसुखोंको भोगता है ॥ २७ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्ण इनकी क्रमानुसार न्यायसे पूजा करनेवाला शूद्र इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंके संतुष्ट होनेपर निष्पाप और व्यथा हीन होकर शरीर त्यागि स्वर्गसुखोंको भोगता है ॥ २८ ॥ हे राजन् !

क्षात्राद्धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्र-
स्तं त्वं राजन् राजधर्मे नियुंक्ष्व ॥ २९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

एवमेतद्यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा ।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथात्थ माम् ॥ ३० ॥
सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान्प्रति मे सदा ।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥ ३१ ॥
न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित् ।

चारोंवर्णोंका यह धर्म मैंने तुमसे कहा है इन चारों वर्णोंके धर्मके कहनेका कारण भी मुझसे श्रवण करिये । हे राजन् ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर महाराज प्रजापालनादिरूप क्षत्रियोंके धर्मसे हीन हैं इस कारण आप उनको क्षत्रियोंके धर्ममें नियुक्त करिये ॥ २९ ॥ तब धृतराष्ट्रजी इतना वचन सुन फिर विदुरजीसे कहने लगे—हे विदुरजी ! यह ऐसा ही होना चाहिये जैसा कि सदैव तुम मुझको शिखाते रहते हो और हे सौम्य ! मेरी बुद्धि भी ऐसी ही होजाती है जैसा कि तुम मुझसे कहते हो ॥ ३० ॥ और वह ही बुद्धि इसी प्रकार मुझकर सदैव पांडवोंके प्रति की भी जाती है पर दुर्योधनको प्राप्त होकर फिर लौट-जाती है ॥ ३१ ॥ सो हे विदुरजी ! प्रारब्ध उल्लंघन करनेको किसी

दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥ [८]

॥ समाप्तमिदं प्रजागरपर्व ॥

प्राणीकर समर्थ नहीं होसकता है इससे प्रारब्धको ही अचल मानताहूँ और पौरुष निरर्थक है ॥ ३२ ॥

गुरुभक्त्यनुभावेन भाषा विदुरनीतिके ।
समपूर्यत तां दृष्ट्वा सन्तो मे सन्तु शंकराः ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये श्रीढाढौलीग्रामस्थ-पाठकवंशावतंस-पंडितमङ्गलसेनात्मजकाशिरामविरचितभाषातिलके चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥ [८]

दोहा–सम्वतवह्निशरांकशशि, माघ कुहूयुत सोम ।
विदुरनीतिभाषातिलक, विरचो पद अनुलोम ॥
काशिरामको आज पितु, मङ्गलसेनसमेत ।
भयो सफल रचि जन्म यह, सद्गुणगणसमुपेत ॥
जगतमान्य मुम्बापुरी, वेंकटेशयन्त्रेश ।
मुद्रणहित अर्पण कियो, क्षितियशकरन प्रवेश ॥

॥ इति विदुरनीति समाप्त ॥

॥ श्रीः ॥

यक्षधर्मप्रश्नोत्तरी।

भाषाटीकासमेता प्रारभ्यते ।



अथारण्येयपर्व ।

जनमेजय उवाच ।

एवं हृतायां भार्यायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

वैशंपायन उवाच ।

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ॥ २

नत्वा कृष्णं यक्षधर्मसुप्रश्नोत्तरमालिकाम् ।
अलङ्करोमि नृगिरा टीकया विशदार्थया ॥

राजा जनमेजय वैशंपायनजीसे कहनेलगे—कि हे ऋषिवर्य ! जब इस प्रकार जयद्रथ करके द्रौपदी हरीगई और घोर क्लेश प्राप्त होगया तिसके अनन्तर द्रौपदीको प्राप्त होकर पाण्डव क्या करते भये ॥ १ ॥ ऐसा सुन वैशंपायनजी कहनेलगे कि हे राजन् ! इस प्रकार द्रौपदीके हरेजानेपर पांडव घोर क्लेशको प्राप्तहुए और भ्राताओं समेत धैर्य-

पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः ।
स्वादुमूलफलं रम्यं विचित्रबहुपादपम् ॥ ३ ॥
अनुभुक्तफलाहाराः सर्व एव मिताशनाः ।
न्यवसन्पाण्डवास्तत्र कृष्णया सह भार्यया ॥ ४ ॥
वसन्द्वैतवने राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ५ ॥
ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ता धर्मात्मानो यतव्रताः ।
क्लेशमार्च्छन्त विपुलं सुखोदर्कं परंतपाः ॥ ६ ॥

धारी राजा युधिष्ठिर उस काम्यक वनको त्यागकर फिर उसी सुन्दर द्वैत वनको आगये कि जहां स्वादिष्ट और सुन्दर मूल फल थे और अनेक प्रकारके बहुत वृक्ष थे ॥ २ ॥ ३ ॥ उस वनमें आकर फलोंका परिमित भोजन करनेवाले व्रतधारी पांडव भार्या द्रौपदी समेत निवास करते भये ॥ ४ ॥ और निवास करतेहुए ही कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर भीमसेन अर्जुन और पांडव माद्रीके पुत्र अर्थात् नकुल सहदेव ॥ ५ ॥ ये धर्मात्मा व्रत धारण करनेवाले और तपस्वी पांडव सुख है पीछे जिसमें ऐसे महाक्लेश (दुःख) को ब्राह्मणके लिये प्राप्त होते

तस्मिन्प्रतिवसन्तस्ते यत्प्रापुः कुरुसत्तमाः।
वने क्लेशं सुखोदर्कं तत्प्रवक्ष्यामि ते शृणु ॥ ७ ॥
अरणीसहितं मन्थं ब्राह्मणस्य तपस्विनः।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ ८ ॥
तदादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः।
आश्रमान्तरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ ९ ॥
ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम।
त्वरितोऽभ्यागमत्तत्र अग्निहोत्रपरीप्सया ॥ १० ॥

भये ॥ ६ ॥ हे राजन्! उस वनमें वसतेहुए कुरुसत्तम वे पांडव जिस सुखफलवाले दुःखको प्राप्त होतेभये वह मैं तुझको कहताहू श्रवण करो॥७॥ एक समय किसी एक तपस्वी ब्राह्मणकी अरणियें अर्थात् अग्निमथनेकी ऊपर नीचेकी लकडियों समेत अग्निमथनेका दंड मस्तककी खाज मिटानेके लिये घिसतेहुए मृगके सींगोंमें उलझ-गयी ॥ ८ ॥ हे राजन्! पश्चात् चलता हुआ वह भारी मृग उसको लेकर महावेगसे कूदता हुवा आश्रमसे दूर चलागया ॥ ९ ॥ हे कुरु-सत्तम! इस प्रकार मृगसींगोंमें गयेहुए अग्निदंडको देखकर वह ब्राह्मण

अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने ।
आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संतप्तश्चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
अरणीसहितं मन्थं समासक्तं वनस्पतौ ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ १२ ॥
तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ।
आश्रमात्त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ १३ ॥
तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम् ।
अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पाण्डवाः ॥ १४ ॥
ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा सन्तप्तोऽथ युधिष्ठिरः ।
धनुरादाय कौन्तेयः प्राद्रवद्भ्रातृभिः सह ॥ १५ ॥

अग्निहोत्र करनेकी इच्छासे वहां आया कि ॥ १० ॥ जहां वनमें भ्राताओं समेत राजा युधिष्ठिर बैठे थे । दुःखित हुआ वह ब्राह्मण शीघ्र वहां आकर यह वचन कहने लगा कि ॥ ११ ॥ हे राजन् ! अरणियों समेत अग्निदंड मैंने एक वृक्षमें रक्खा था वह खर्जू करतेहुए मृगके सींगोंमें उलझगया ॥ १२ ॥ हे राजन् ! चलताहुआ वह महामृग उसको लेकर चलागया और बडे वेगसे कूदताहुआ वह मृग शीघ्र आश्रमसे दूर-चला गया ॥ १३ ॥ हे पांडुपुत्रो ! उसके पश्चात् जाकर और उस महामृगको प्राप्त होकर मेरे अरणीसहित अग्निदंडको लादो कि जिससे मेरा अग्निहोत्र लुप्त न हो ॥ १४ ॥ ब्राह्मणका ऐसा वचन सुनकर

सन्नद्धा धन्विनः सर्वे प्राद्रवन्नरपुङ्गवाः ।
ब्राह्मणार्थे यतंतस्ते शीघ्रमन्वगमन्मृगम् ॥ १६ ॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन्तो महारथाः ।
नाविध्यन्पाण्डवास्तत्र पश्यन्तो मृगमन्तिकात् ॥१७॥
तेषां प्रयतमानानां नादृश्यत महामृगः ।
अपश्यन्तो मृगं शान्ता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः ॥ १८॥
शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने ।
क्षुत्पिपासापरीताङ्गाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥१९ ॥

राजा युधिष्ठिरको बडा कष्ट हुवा और इसके अनन्तर यह कुन्तीपुत्र धनुष लेकर भ्राताओं सहित मृगके पीछे दौडा ॥ १५ ॥ जब कि ब्राह्मणके लिये जतन करतेहुए वे नरपुंगव कवचादि धारण करके धनुष लेकर शीघ्र मृगके पीछे दौडे ॥ १६ ॥ तब मुखमात्रमें लोह-वाले और सम्पूर्ण लोहवाले उन बाणोंको छोडतेहुए भी महारथ पांडव वहीं मृगको समीप न देखनेके कारण मारने न पाये ॥ १७ ॥ जतन करते हुए भी उन वीरोंको जब वह महामृग नहीं दीखपडा तब मृगके ढूँढनेसे वे शांत होगये और मनस्वी ये पांडव महान् कष्टको प्राप्त हुए ॥ १८ ॥ पश्चात् उस गहनवनमें शीतलछायावाले एक बडके

तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा ।
अब्रवीद्भ्रातरं श्रेष्ठममर्षात्कुरुनन्दनम् ॥ २० ॥

नास्मिन्कुले जातु ममज्ज धर्मो
न चालस्यादथ लोपो बभूव ।
अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः
संप्राप्ताः स्मः संशयं किन्नु राजन् ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेय-
पर्वणि मृगान्वेषणे एकादशाधिकात्रि-
शततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥ [१]

वृक्षकी छायामें प्राप्त होकर क्षुधा तृषासे पीडित अँगोंवाले वे पांडव बैठगये ॥१९॥ जब सम्पूर्ण वहां बैठगये तब दुःखित हुवा नकुल, कुरुनन्दन श्रेष्ठ भ्राता राजा युधिष्ठिरको क्रोधसे कहने लगा ॥२०॥ हे राजन् ! इस हमारे कुलमें आजतक न कभी धर्मका लोप हुवा है और न कभी आलस्यसे अर्थका लोप हुवा है फिर सम्पूर्ण प्राणियोंमें कभी कोई अनुत्तर अर्थात् ' किसीका कार्य न करना ' ऐसे नहीं हुए हैं परन्तु न जानै हम कैसे इस संदेहको प्राप्त हुए हैं कि जो ब्राह्मणका कार्य नहीं करसकते हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि भाषाटीकायां मृगान्वेषणे एकादशाऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥ [१]

युधिष्ठिर उवाच ।

नापदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम् ।
धर्मस्तु विभजत्यर्थमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ १ ॥

भीम उवाच ।

प्रातिकाम्यनयत्कृष्णां सभायां प्रेष्यवत्तदा ।
न मया निहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच ।

वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः ।
अतितीव्रा मया क्षान्तास्तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ३ ॥

ऐसा सुन राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । कि हे नकुल ! हे भ्रातः ! आपदाओंकी कोई मर्यादा नहीं है और न कोई निमित्त है न कारण है किंतु प्रारब्धरूप धर्म ही, पुण्य और पाप इन दोनोंके फलरूप सुखदुःखोंको विभाग करदिया करता है ॥ १ ॥ यह सुन भीमसेन कहनेलगे कि हे भ्रातः ! जिस समय दुष्ट दुःशासन द्रौपदीको दासीके समान केश पकडकर सभामें लेगया उस समय वह दुष्ट मैंने नहीं मारा इसलिये उस अपराधसे हमको यह कष्ट प्राप्त हुवा है ॥ २ ॥ अर्जुन कहनेलगे कि हे भ्रातः ! मैं जानताहूँ कि अति-

सहदेव उवाच ।

शकुनिस्त्वां यदाजैषीदक्षद्यूतेन भारत ।
स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ४ ॥

वैशंपायन उवाच ।

ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत् ।
आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ॥ ५ ॥
पानीयमन्तिके पश्य वृक्षांश्चाप्युदकाश्रितान् ।
एते हि भ्रातरः श्रान्तास्तव तात पिपासिताः ॥ ६ ॥

तीव्र और अस्थियोंको भेदन करनेवाली वाणी कर्णने मुझको कही और मैं क्षत्रिय होकर उनको सहगया बदला नहीं लिया इस कारण हमको यह कष्ट प्राप्त हुवा है ॥ ३ ॥ यह सुनकर सहदेव कहनेलगे कि, हे भारत ! जब शकुनि, आपको पाशोंके जुएसे जीतताभया और मैंने उस समय उसे वहां नहीं मारा इसलिये हमको यह संकट प्राप्त हुवा है ॥ ४ ॥ इतनी कथा कहकर फिर वैशंपायनजी राजा जनमेजयसे बोले । हे राजन् ! जनमेजय ! पश्चात् राजा युधिष्ठिर नकुलको कहनेलगे कि हे माद्रेय ! वृक्षपर चढकर चारों तरफको देख ॥ ५ ॥ कि कहीं नजदीक ऐसे वृक्ष भी दीखते हैं कि जहां जल होवै क्योंकि ये तेरे भ्राता बडे थके हैं और प्यासे

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम् ।
अब्रवीद्भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समंततः ॥ ७ ॥
पश्यामि बहुलान् राजन्वृक्षानुदकसंश्रयान् ।
सारसानां च निर्हादमत्रोदकमसंशयम् ॥ ८ ॥
ततोऽब्रवीत्सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूणैः पानीमानय ॥ ९ ॥
नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात् ।
प्राद्रवद्यत्र पानीयं शीघ्रं चैवान्वपद्यत ॥ १० ॥

हैं ॥ ६ ॥ नकुल ' जो आज्ञा ' ऐसे कहकर शीघ्र वृक्षपर चढा और चारों तरफ देखकर बडे भ्राता युधिष्ठिरसे कहनेलगा ॥ ७ ॥ हे राजन् ! एक जगह जलाश्रयवाले बहुत वृक्ष दीखते हैं और सारसोंके शब्द सुनपडते हैं इस लिये जानता हूँ कि वहां निश्चय जल होगा ॥ ८ ॥ ऐसा वाक्य सुनकर पश्चात् सत्यधारी कुन्तीके पुत्र राजा युधिष्ठिर कहनेलगे कि हे सौम्य ! तुम शीघ्र जाओ और तरकसोंमें जल भरके लेआओ ॥ ९ ॥ नकुल ' जो आज्ञा ' ऐसे कहकर बडे भ्राता राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे शीघ्र वहां प्राप्त हुए

स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम् ।
पातुकामस्ततो वाचमन्तारिक्षात्स शुश्रुवे ॥ ११ ॥

यक्ष उवाच ।

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्वच ॥ १२ ॥
अनादृत्य तु तद्वाक्यं नकुलः सुपिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १३ ॥
चिरायमाणे नकुले कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीद्भ्रातरं वीरं सहदेवमरिंदमम् ॥ १४ ॥

कि जहां जल था ॥ १० ॥ वह नकुल सारसोंसे घिराहुवा वहां स्वच्छ जल देखकर ज्योंही पीनेकी इच्छासे चला कि आकाशसे वाणी सुननेमें आई ॥ ११ ॥ उस आकाशवाणीसे यक्ष कहने लगा कि हे तात ! यह जलपानरूप साहस तुम त्याग दो क्योंकि जिससे प्रथम मेरा नियम है इसलिये हे माद्रीके पुत्र ! मेरे प्रश्नोंको कहकर जल पीवो और लेजाओ ॥१२॥ तृषासे व्याकुलहुवा नकुलने उस वाणीका अनादर करके शीतल जल पान किया और पान करते ही पृथ्वीपर गिरपडा ॥ १३ ॥ वहां जब गयेहुए नकुलको बहुत देर होगई तब कुन्तीका पुत्र राजा युधिष्ठिर शत्रुओंको दमन करनेवाले वीर भ्राता

भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाग्रजः ।
तथैवानय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय ॥ १५ ॥
सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत ।
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥ १६ ॥
भ्रातृशोकाभिसंतप्तस्तृषया च प्रपीडितः ।
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ॥ १७ ॥
मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं पिबस्व च हरस्व च ॥ १८ ॥

सहदेवको कहनेलगे कि ॥ १४ ॥ हे सहदेव ! तुम्हारे बडे भ्राता नकुल जल लानेको बहुत देरसे गये हैं आये नहीं क्या कारण हुवा ? इसलिये तुम जावो उनको भी बुलालेते आओ और जल भी लेते आओ॥ १५॥सहदेव ' जो आज्ञा ' ऐसे कहकर उसी जगंह प्राप्त हुआ और वहां देखता क्या है कि भ्राता नकुल मरेहुएपृथ्वीपरपडेहैं ॥ १६॥ भ्राता नकुलके शोकसे संतप्त और तृषासे पीडित हुवा सहदेव ज्यौंही जल पीनेके लिये शीघ्रता कर चला कि त्यौंही फिर पूर्वके समान वह यक्षवाणी सुनाई पडी ॥ १७ ॥ कि हे तात ! साहस मत करो मेरा कियाहुवा नियमको सुनकर मेरे प्रश्नोंका उत्तर करके जलपान करो और लेजाओ अर्थात् नहीं तो तुम्हरी भी यही दशा होगी ॥ १८ ॥

अनादृत्य तु तद्वाक्यं सहदेवः पिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १९ ॥
अथाऽब्रवीत्स विजयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भ्रातरौते परिगतौ बीभत्सो शत्रुकर्शन ॥ २० ॥
तौ चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां दुःखितानामुपाश्रयः ॥ २१ ॥
एवमुक्ते गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
आमुक्तखड्गो मेधावी तत्सरः प्रत्यपद्यत ॥ २२ ॥
ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ ।
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ॥ २३ ॥

तृषासे पीडितहुए सहदेवने ज्यौंही उस वाक्यका अनादर कर जलपान किया कि त्यौंही बेसुध हो पृथ्वीपर गिरपडा ॥ १९ ॥ इसके अनंतर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर अर्जुनको कहनेलगे कि हे बीभत्सो ! हे शत्रु कर्शन ! तुम्हारे भ्राता नकुल और सहदेव जल लानेको गये थे कि नहीं आये ॥ २० ॥ इसलिये हे तात ! तुम उनको लाओ तुम्हारा कल्याण हो क्योंकि जिससे हम संपूर्ण दुःखितोंका आसरा तुम हीं हो तो ॥ २१ ॥ ऐसे कहाहुवा अर्जुन धनुष बाण चढाकर और म्यानसे तलवार निकालकर उस सरोवरको प्राप्त हुवा ॥ २२ ॥ कि जहां पुरुषशार्दूल नकुल और सहदेव जल लानेको गये थे और वहां

भ्रातराविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः ।
धनुरुद्यम्य कौन्तेयो व्यलोकयत तद्वनम् ॥ २४ ॥
नापश्यत्तत्र किंचित्स भूतमस्मिन्महावने ।
सव्यसाची ततः श्रान्तः पानीयं सोऽभ्यधावत ॥ २५ ॥
अभिधावंस्ततो वाक्यमन्तरिक्षात्स शुश्रुवे ।
किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात्त्वया ॥ २६ ॥
कौन्तेय यदि प्रश्नांस्तान्मयोक्तान्प्रतिपत्स्यसे ।
ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत ॥ २७ ॥

देखता क्या है कि नकुल और सहदेव दोनों भ्राता मरे हुए पडे हैं ॥ २३ ॥ यह मनुष्योंमें सिंहरूप कुंतीका पुत्र अर्जुन, मृतकके समान दोनों भ्राताओंको देखकर अत्यंत दुःखित हुवा और धनुषपर बाण चढाकर उस बनमें इधर उधर देखनेलगा ॥ २४ ॥ जब यह सव्यसाची उस महावनमें ढूंढताहुवा किसी प्राणीमात्रको भी प्राप्त न होताभया तब थका और प्यासा अर्जुन पानी पीनेको दौडा ॥ २५ ॥ और तिसके अनंतर दौडतेहुए अर्जुनने आकाशसे यह वाक्य सुना देखना क्या ? दौडकर जलपीनेको जातेहो ? यह जल बलसे मिलनेवाला नहीं है ॥ २६ ॥ हे कुंतीके पुत्र ! हे भारत ! जो तुम्हारी जल पीनेकी और लेजानेकी इच्छा है तो प्रथम मेरे कहेहुए प्रश्नोंका उत्तर करना ॥ २७

वारितस्त्वब्रवीत्पार्थो दृश्यमानो निवारय ।
यावद्बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ॥ २८ ॥
एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः ।
प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधं च दर्शयन् ॥ २९ ॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन् भरतर्षभ ।
स त्वमोघानिषून्मुक्त्वा तृष्णयाभिप्रपीडितः ॥ ३० ॥
अनेकैरिषुसंघातैरन्तरिक्षे ववर्ष ह ।

यक्ष उवाच ।

किं विघातेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब ॥ ३१ ॥

ऐसे रोकाहुवा अर्जुन कहनेलगा कि, कौन रोकनेवाला है मेरे सन्मुख होकर रोक क्योंकि जिससे मेरे बाणोंसे विदीर्ण अंगोंवाला हुआ फिर ऐसे नहीं कहेगा ॥ २८॥ फिर अर्जुन ऐसा कहकर शब्दवेधको दिखाता हुआ दशोंदिशाओंमें बाणोंकी वृष्टि करनेलगा ॥ २९॥ वैशंपायनजी राजा जनमेजयसे कहते हैं-कि, हे भरतर्षभी! जब इस प्रकार छोडेहुए बाण अर्जुनके निष्फल होगये तब महाकष्टसे व्याप्त हुआ अर्जुन तृषासे पीडित होगया ॥ ३० ॥ पश्चात् जब अनेक बाणसमूहोंकी वर्षा आकाशमें करी तब फिर यक्ष कहने लगा कि हे पार्थ! इस तेरे वृथा प्रयाससे क्या होना है ? मेरे प्रश्नोंका

अनुक्त्वा च पिबन्प्रश्नान्पीत्वैव न भविष्यसि ।
एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनञ्जयः ॥ ३२ ॥
अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपात ह ।
अथाब्रवीद्भीमसेनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३३ ॥
नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्च परंतप ।
चिरं गतास्तोयहेतोर्न चागच्छन्ति भारत ॥ ३४ ॥
तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।
भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत ॥ ३५ ॥

उत्तर कर और पश्चात् जलपान कर ॥ ३१ ॥ और जो प्रश्नोंका उत्तर नहीं करके जलपान करेगा तो जलपान करते ही तेरे भ्राताओं-वाली तेरी भी दशा होगी। ऐसे कहा हुआ पृथाका पुत्र सव्यसाची (दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाला) अर्जुनने ॥ ३२ ॥ उस वाणीका तिरस्कार करके ज्योंही जलपान किया त्योंही मूर्छित हो पृथ्वीपर गिरपडा। इसके अनंतर कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर भीमसेनसे कहने लगे ॥ ३३ ॥ कि हे परंतप! हे भारत! नकुल सहदेव और अर्जुन जल लानेको गये थे बहुत देर होगई आये नहीं ॥ ३४ ॥ हे भ्रातः! तुम्हारा कल्याण हो तुम उन तीनोंको भी लाओ और पानी भी लाओ। ऐसे कहेहुए भीमसेन 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर उस सरोवरको प्राप्त हुए कि जहाँ इसके पुरुषव्याघ्र भ्राता अर्जुन आदि पडे थे उनको देखकर

यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः ।
तान्दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः ॥ ३६ ॥
अमन्यत महाबाहुः कर्म तद्यक्षरक्षसाम् ।
स चिन्तयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै ॥ ३७ ॥
पास्यामि तावत्पानीयमिति पार्थो वृकोदरः ।
ततोऽभ्यधावत्पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः ॥ ३८ ॥

यक्ष उवाच ।

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३९ ॥
एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणामिततेजसा ।
अनुक्त्वैव तु तान्प्रश्नान्पीत्वैव निपपात ह ॥ ४० ॥

भीमसेन दुःखित हुवा और तृषासे अत्यंत पीडित हुवा ॥ ३५॥३६ ॥ पश्चात् इस महाबाहु भीमसेनने विचार किया कि यह किसी यक्ष राक्षसका काम है इस लिये मैं अवश्य उसके साथ युद्ध करूंगा ॥ ३७ ॥ परन्तु जल तो पीलेताहूँ, ऐसा विचार करके यह पुरुषश्रेष्ठ पृथाका पुत्र भीमसेन ज्यौंही जल पीनेको चला कि यक्ष बोला ॥ ३८ ॥ यक्ष कहने लगा कि हे तात ! हे कौंतेय ! साहस न करना प्रथम मेरा किया नियम सुनना कि, मेरे प्रश्नोंको कहकर जल पीवो और लेजाओ ॥ ३९ ॥ अति तेजस्वी यक्षने जब भीमसेनसे ऐसा कहा तब इस

ततः कुन्तीसुतो राजा प्रचिन्त्य पुरुषर्षभः।
समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा ॥ ४१ ॥
व्यपेतजननिर्घोषं प्राविवेश महावनम्।
रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम् ॥ ४२ ॥
नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम्।
भ्रमरैरुपगीतं च पक्षिभिश्च महायशाः ॥ ४३ ॥
स गच्छन्कानने तस्मिन् हेमजालपरिष्कृतम्।
ददर्श तत्सरः श्रीमान्विश्वकर्मकृतं यथा ॥ ४४ ॥

यक्षके प्रश्न नहीं कहकर ही इस भीमसेनने जलपान करलिया और जलपान करते ही भीमसेन भी औरोंके समान गिर पडा ॥ ४० ॥ तदनंतर पुरुषोंमें श्रेष्ठ और महाबाहु वह कुन्तीका पुत्र राजा युधिष्ठिर दग्ध होतेहुए चित्तसे चिंतन करके उठा और उठकर ॥ ४१ ॥ उस महावनमें प्रविष्ट हुए जो कि मनुष्योंके शब्दोंसे रहित था और मृग वराह पक्षियोंसे सेवित था ॥ ४२ ॥ और जो कि नीले देदीप्यमान कांतिवाले वृक्षोंसे शोभित था और भ्रमर तथा पक्षियोंसे शब्दित था ऐसे उस वनमें चलतेहुए वह महायशा राजा युधिष्ठिर एक सरोवरको देखतेभये कैसा वह सरोवर है कि सुवर्ण सदृश पुष्पोंकी केसरके जालसे परिष्कार कियाहुवा मानों विश्वकर्माको रचा है ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

उपेतनलिनीजालैः सिन्दुवारैः सवेतसैः ।
केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संवृतम् ।
श्रमार्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाऽथ विस्मितः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेय-
पर्वणि नकुलादिपतने द्वादशाधिकात्रिशत-
तमोऽध्यायः ॥ ३१२ ॥ (२)

वैशंपायन उवाच ।

स ददर्श हतान्भ्रातॄँल्लोकपालानिव च्युतान् ।
युगान्ते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान् ॥ १ ॥

और कमोदिनी, निर्गंडी,वेत इन्होंसे व्याप्त है और केतकी,कनेर,पीपल इन्होंसे युक्त है । पश्चात् श्रमसे पीडित हुए राजा युधिष्ठिर वहां प्राप्त हुए और उस सरोवरको देखकर अति आश्चर्य करने लगे ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि भाषाटीकायां
नकुलादिपतने द्वादशाऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१२॥(२)

इतनी कथा कहकर फिर राजा जनमेजयसे वैशंपायनजी कहते हैं कि हे राजन् ! जनमेजय ! वह राजा युधिष्ठिर इंद्रतुल्य गौरववाले उन

विनिकीर्णधनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम् ।
भीमसेनं यमौ चैव निर्विचेष्टान्गतायुषः ॥ २ ॥
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकबाष्पपरिप्लुतः ।
तान्दृष्ट्वा पतितान्भ्रातॄन्सर्वांश्चिन्तासमन्वितः ॥ ३ ॥
धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम् ।
ननु त्वया महाबाहो प्रतिज्ञातं वृकोदर ॥ ४ ॥
सुयोधनस्य भेत्स्यामि गदया सक्थिनी रणे ।
व्यर्थं तदद्य मे सर्वं त्वयि वीरे निपातिते ॥ ५ ॥

हत भ्राताओंको उस कालमें इस प्रकार देखते भये कि मानो युगांत प्रलयमें च्युत (अपने २ लोकोंसे गिरेहुए) लोकपाल हैं ॥ १ ॥ बिखरे पडे हैं धनुष बाण जिसके ऐसे मूर्छित अर्जुनको देखकर और चेष्टारहित तथा गतायु भीमसेन और नकुल सहदेवको देखकर ॥ २ ॥ राजा युधिष्ठिरने लम्बा श्वास छोडा । पश्चात् शोकबाष्पसे युक्त और चिंतासे व्याप्तहुवा यह धर्मपुत्र महाबाहु राजा युधिष्ठिर पडेहुए संपूर्ण भ्राताओंको देखकर बारंबार विलाप करनेलगा कि हे महाबाहो ! हे वृकोदर ! तुमने तो प्रतिज्ञा की थी कि मैं युद्धमें दुर्योधनकी जंघाओंको गदासे विदीर्ण करूंगा । इस लिये हे वीर ! तेरे पडनेसे वह सब मेरा विचार निरर्थक होगया ॥ ३-५ ॥

महात्मनि महाबाहो कुरूणां कीर्तिवर्धने ।
मनुष्यसंभवा वाचो विधर्मिण्यः प्रतिश्रुताः ॥ ६ ॥
भवतां दिव्यवाचस्तु ता भवन्तु कथं मृषा ।
देवाश्चापि यदावोचन्सूतके त्वां धनञ्जय ॥ ७ ॥
सहस्राक्षादनवरः कुन्ति पुत्रस्तवेति वै ।
उत्तरे पारियात्रे च जगुर्भूतानि सर्वशः ॥ ८ ॥
विप्रनष्टां श्रियं चैषामाहर्ता पुनरञ्जसा ।
नास्य जेता रणे कश्चिदजेता नैष कस्यचित् ॥ ९ ॥

हे महाबाहो ! हे अर्जुन ! कौरवोंकी कीर्ति बढानेवाले तुझमें प्रतिज्ञा की हुई मनुष्यवाणी आज असत्य होगई परंतु ॥ ६ ॥ तुम्हारी देववाणी तो कैसे असत्य होगी कि, जो सूतकमें ही देवता तुझको कहते भये कि ॥ ७ ॥ हे कुन्ती ! यह तेरा पुत्र इन्द्रसे कुछ कम न होगा क्योंकि जिससे उत्तर पारियात्रमें अर्थात् विंध्याचलके पश्चिम प्रदेशमें सब जगह इसका यश गायाजायगा ॥ ८ ॥ जैसे कि नष्ट हुई भी इन पांडवोंकी लक्ष्मीको यह फिर लाकर प्राप्त कर देगा और रणमें कोई इसका जीतनेवाला न होगा और ऐसा भी कोई न होगा कि जिसको यह न जीतसकै अर्थात् रणमें यह सभीका जीतनेवाला

सोऽयं मृत्युवशं यातः कथं जिष्णुर्महाबलः ।
अयं ममाशां संहृत्य शेते भूमौ धनंजयः ॥ १० ॥
आश्रित्य यं वयं नाथं दुःखान्येतानि सेहिम ।
रणे प्रमत्तौ वीरौ च सदा शत्रुनिबर्हणौ ॥ ११ ॥
कथं रिपुवशं यातौ कुन्तीपुत्रौ महाबलौ ।
यौ सर्वास्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनञ्जयौ ॥ १२ ॥
अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः ।
यमौ यदेतौ दृष्ट्वाद्य पतितौ नावदीर्यते ॥ १३ ॥

होगा ॥ ९ ॥ सो यह ऐसा महाबली अर्जुन भी कैसे मृत्युको प्राप्त हो गया । अहो यह ऐसा अर्ज्जुन भी मेरी आशाको नष्ट करके कैसे पृथ्वी-पर सोगया ॥ १० ॥ हाय ! हम तो इसीको नाथ मानकर आश्रित होकर इन दुःखोंको सहते थे और रणमें सर्वदा शत्रुओंको नष्ट करनेवाले प्रमत्त और महावीर ॥ ११ ॥ महाबलवान् कुन्तीके पुत्र भीमसेन और अर्जुन सम्पूर्ण शस्त्र अस्त्रोंसे अवध्य होनेपर भी कैसे शत्रुके वश होगये ॥ १२ ॥ हाय ! बुरे हृदयवालेका मेरा हृदय निश्चय वज्रका हैं क्योंकि जिससे अब पडेहुए इन नकुल

शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः क्रियान्विताः ।
अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्वं पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥
अविक्षतशरीराश्चाप्यप्रमृष्टशरासनाः ।
असंज्ञा भुवि संगम्य किं शेध्वमपराजिताः ॥ १५ ॥
सानूनिवाद्रेः संसुप्तान्दृष्ट्वा भ्रातॄन्महामतिः ।
सुखं प्रसुप्तान्प्रस्विन्नः खिन्नः कष्टां दशां गतः ॥ १६ ॥
एवमेवेदमित्युक्त्वा धर्मात्मा स नरेश्वरः ।
शोकसागरमध्यस्थो दध्यौ कारणमाकुलः ॥ १७ ॥

सहदेवको देखकर नहीं फटता है ॥ १३ ॥ अहो शास्त्रोंके जाननेवाले देशकालके जाननेवाले तपस्वी क्रियाओंसे युक्त ये पुरुषश्रेष्ठ अपने सदृश कर्म नहीं करके क्यों पृथ्वीपर सोगये ॥ १४ ॥ अहो कहीं न इनके शरीरपर घाव हुवा न कोई धनुष बाण टूट फिर भी यह अजेय वीर किस कारण संज्ञारहितहुए पृथ्वीपर सोते हैं ॥ १५ ॥ यह महामति राजा युधिष्ठिर सुखपूर्वक सोतेहुए पर्वतकी शिखरोंकी तरह अपने भ्राताओंको देखकर अतिदुःखित होनेके कारण इसके शरीरमें पसीने आगये और महाकष्ट दशाको प्राप्त हुए ॥ १६ ॥ ‘ यह ऐसा ही होना था ’ इस प्रकार यह धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर

इतिकर्तव्यतां चेति देशकालविभागवित् ।
नाभिपेदे महाबाहुश्चिन्तयानो महामतिः ॥ १८ ॥
अथ संस्तभ्य धर्मात्मा तदात्मानं तपःसुतः ।
एवं विलप्य बहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥
बुद्ध्या विचिन्तयामास वीराःकेन निपातिताः॥२०॥
नैषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहास्ति कस्यचित् ।
भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः ॥ २१ ॥
एकाग्रं चिन्तयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम् ।

कहकर शोकसागरके बीचमें स्थित होकर व्याकुल हुवा कारणको विचारता भया ॥ १७ ॥ देशकालके विभागको जानता हुवा यह महाबाहु और महामति राजा युधिष्ठिर चिन्तन करता हुवा भी 'यह किसका कियाहुआ कर्म है' यह नहीं जानता भया ॥ १८ ॥ पश्चात् ऐसे बहुत प्रकारके विलाप करके यह धर्मपुत्र धर्मात्मा तपस्वी राजा युधिष्ठिर अपने आत्मामें धैर्य धारण करता भया ॥ १९ ॥ पश्चात् बुद्धिसे चिंतन करनेलगा कि ये वीर किसने गिरादिये ॥२०॥ न इनके शस्त्रका प्रहार है न किसीका यहां स्थान है कोई बडा भारी कारण है कि जिससे मेरे भ्राता हत हुए हैं ॥ २१ ॥ जलपान करके एकान्तमें मैं इसको चिंतन करूंगा क्यों कि कदाचित् दुर्योध-

स्यात्तु दुर्योधनेनेदमुपांशु विहितं कृतम् ॥ २२ ॥
गान्धारराजचरितं सततं जिह्मबुद्धिना ।
यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत ॥ २३ ॥
कस्तस्य विश्वसेद्वीरो दुष्कृतेरकृतात्मनः ।
अथवा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः ॥ २४ ॥
भवेदिति महाबुद्धिर्बहुधा तदचिंतयत् ।
तस्यासीन्न विषेणेदमुदकं दूषितं यथा ॥ २५ ॥
मृतानामपि चैतेषां विकृतं नैव जायते ।
मुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातॄणामित्यचिंतयत् ॥ २६ ॥

—नने ही एकांतमें यह काम न किया हो ॥ २२ ॥ अथवा जिसके अच्छा और बुरा दोनों कार्य समान है ऐसा कुटिल गांधारराज (शकुनी) का काम है ? ॥ २३ ॥ अथवा बुरा कर्म करनेवाला और अकृतात्मा उस दुर्योधनका कौन विश्वास करे कि कभी दुरात्माने किसी गूढपुरुषों करके यह प्रयोग कराया हो ॥२४॥ पश्चात् यह महाबुद्धि बहुत प्रकारसे चिंतन करता हुवा कि कभी यह इस सरोवरका जल ही विषसे दूषित न हो॥२५॥ फिर कहताहै कि जल तो विषदूषित नहीं क्योंकि जिससे मेरे भ्राताओंके मुखवर्ण प्रसन्न है॥२६॥

एकैकशश्चौघबलानिमान्पुरुषसत्तमान् ।
कोऽन्यः प्रतिसमासेत कालान्तकयमादृते ॥ २७ ॥
एतेन व्यवसायेन तत्तोयं व्यवगाढवान् ।
गाहमानश्च तत्तोयमन्तरिक्षात्स शुश्रुवे ॥ २८ ॥

यक्ष उवाच ।

अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षो
नीता मया प्रेतवशं तवानुजाः ।
त्वं पञ्चमो भविता राजपुत्र
न चेत्प्रश्नान्पृच्छतो व्याकरोषि ॥

हम एक एक भी महाबलवान् पुरुषसत्तमोंको कालांतक धर्मराजके विना अन्य कौन युद्धमें सामने खडा होसकताहै ॥ २७ ॥ ऐसा निश्चय करके ज्यौंही सरोवरका जलपान करनेको चले कि त्यौंही आकाशवाणी सुनपडी ॥ २८ ॥ यक्ष कहनेलगा कि, हे राजपुत्र ! मैं सिवाल और मछली खानेवाला बगला हूँ और मैंने ही ये चारों तेरे छोटे भ्राता प्रेतभावके वेशमें प्राप्त किये हैं इसलिये यदि तुम भी पाँचवे मेरे पूछेहुए प्रश्नोंका उत्तर न करोगे तो इसी दशाको प्राप्त

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वातु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

रुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक् ।
पृच्छामि को भवान्देवो नैतच्छकुनिना कृतम् ॥ ३१ ॥
हिमवान्पारियात्रश्च विन्ध्यो मलय एव च ।
चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरितेजसः ॥ ३२ ॥
अतीव ते महत्कर्म कृतं च बलिनां वर ।
यान्न देवा न गन्धर्वा नासुराश्च न राक्षसाः ॥ ३३ ॥

होजाओगे ॥ २९ ॥ हे तात हे कौन्तेय ! साहस मत करो मेरे नियमके अनुसार मेरे प्रश्नोंको कहकर फिर जल पीवो और लेजाओ ॥३०॥ऐसा सुनकर राजा युधिष्ठिर कहने लगे कि मैं पूछता हौं॥११॥ रुद्रोंमें अथवा ८ वसुवोंमें अथवा ९ पवनोंमें आप कौन प्रधान देव भगवान् हो क्योंकि जिसेसे पक्षीका अर्थात् बगलाका यह काम हो नहीं सकता ॥ ३१ ॥ अहो हिमवान् ! पारियात्र विंध्याचल तथा मलयाचल इनके समान बडे तेजस्वी मेरे चारों भ्राता किस प्रकार गिराये ॥ ३२ ॥ हे बलियोंमें श्रेष्ठ ! यह आपने वह

विषहेरन्महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्भुतम् ।
न ते जानामि यत्कार्यं नाभिजानामि काङ्क्षितम् ३४।
कौतूहलं महज्जातं साध्वसं चागतं मम ।
येनाऽस्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः ॥ ३५ ॥
पृच्छामि भगवंस्तस्मात्को भवानिह तिष्ठति ।
यक्ष उवाच ।
यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नास्मि पक्षी जलेचरः ॥ ३६ ॥
मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः ।
वैशंपायन उवाच ।
ततस्तामशिवां श्रुत्वा वाचं स परुषाक्षराम् ॥ ३७ ॥

बडा भारी काम किया है कि जिसको देव गंधर्व असुर और राक्षस कोई भी महायुद्धमें परास्त नहीं करसकतेहैं परन्तु आपने जैसे यह कार्य कियाहै और जिस इच्छासे किया है वह मैं नहीं जानताहूँ॥३३-३४॥ इस आपके कार्यसे मेरेको बडा आश्चर्य उत्पन्न हुवा है और दुःख भी उत्पन्न हुवा है इसी लिये उद्विग्नहृदय और शिर पीडावाला हुआ हूँ ॥ ३५॥ इस लिये हे भगवन् ! मैं आपसे पूछता हूं कि आप कौन हैं ऐसे सुनकर यक्ष कहनेलगे कि, हे राजन्! तेरा कल्याण हो मैं जलचर पक्षी नहीं हूँ किंतु यक्ष हूँ ॥ ३६ ॥ और मैंने ही ये तेरे सम्पूर्ण

यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नुपक्रम्य तदा स्थितः ।
विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम् ।
ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम् ।
वृक्षमाश्रित्य तिष्ठन्तं ददर्श भरतर्षभः ॥ ३९ ॥
मेघगम्भीरनादेन तर्जयन्तं महास्वनम् ।

यक्ष उवाच ।

इमे ते भ्रातरो राजन्वार्यमाणा मयाऽसकृत् ॥ ४० ॥

महापराक्रमी भ्राता हनन किये हैं । वैशंपायनजी कहते हैं कि, हे राजन् जनमेजय ! तिसके अनन्तर उस कहतेहुए यक्षकी वह कठोर अक्षरोंवाली अमङ्गल वाणी सुनकर राजा युधिष्ठिर सावधानीसे स्थित हुवा और भयंकर हैं नेत्र जिसके, बडा है शरीर जिसका, तालके समान है ऊँचाई जिसकी ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ देदीप्यमान अग्निके सदृश तेजस्वी, पर्वतके सदृश, वृक्षको आश्रित करके स्थित होता-हुवा है ऐसे इस यक्षको देखताभया ॥ ३९ ॥ कैसा वह यक्ष है कि मेघसदृश गम्भीर वाणीसे महा शब्दोंको झिडकताहुवा है । यक्ष कहनेलगा कि कि हे राजन् ! मैंने ये तेरे भ्राता बारंबार निवारण भी

बलात्तोयं जिहीर्षन्तस्ततो वै मृदिता मया ।
न पेयमुदकं राजन्प्राणानिह परीप्सता ॥ ४१ ॥
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

न चाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम् ।
कामं नैतत्प्रशंसन्ति सन्तो हि पुरुषाः सदा ॥ ४३ ॥
यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसेत्पुरुषर्षभ ।

किये ॥ ४० ॥ परन्तु इन्होंने मेरा कहा नहीं माना और जबरदस्ती जल लेनेको दौडे इसी लिये मुझसे मार्दित कियेहुए पडे हैं। और हे राजन् ! प्राणोंको चाहते हुए तुमने भी यह जलपान नहीं करना ॥ ४१ ॥ हे पार्थ ! हे कौंतेय ! तुमने भी वृथा साहस नहीं करना क्योंकि जिससे मेरा नियम है कि मेरे प्रश्नोंका उत्तर करके जल पीवो और ले जाओ ॥ ४२ ॥ ऐसे सुन राजा युधिष्ठिर कहनेलगे कि हे यक्ष ! यद्यपि मैं इस आपके पूर्वपक्ष करनेकी इच्छा नहीं करताहूँ क्योंकि संत पुरुष सदा ऐसे पक्षपातकी श्लाघा नहीं करते हैं ॥ ४३ ॥ इस लिये हे पुरुषश्रेष्ठ ! अपना आत्मा करके अपनी

यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान्प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ॥ ४४ ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चराः ।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः ।
धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ॥ ४६ ॥

आत्माकी मैं प्रशंसा नहीं करता कि मैं यथार्थ आपके प्रश्नोंका उत्तर कर ही दूंगा, हां, आप पूछें अपनी बुद्धिके अनुसार मैं आपके प्रश्नोंका उत्तर करूंगा ॥ ४४ ॥ अब यहांसे प्रश्नोत्तरमालिका प्रारंभ है जिसमें यक्षरूप धर्मकरके युधिष्ठिरकेलिये आत्मतत्त्वनिर्णय किया जाता है क्यों कि जिससे आत्मतत्त्वदर्शी ज्ञानी सहज ही शोकादिकोंके तरजाता है । यक्ष कहनेलगे । यक्षप्रश्न—सूर्यका उदय कौन करता है ? १ इसके चारोंतरफ होनेवाले कौन हैं ? २ इसका अस्त करनेवाला कौन है ? ३ और यह सूर्य स्थित किसमें है ? ४ ॥४५॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । युधिष्ठिर कृत उत्तर-सूर्यतुल्य जीवको वेद उदय करता है अर्थात् देहादि अभिमानरूप अज्ञानसे छुडा कर ब्रह्मस्वरूप

यक्ष उवाच ।

केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद्विंदते महत् ।
केनास्विद्द्वितीयवान्भवति राजन्केनचबुद्धिमान् ॥ ४७॥

युधिष्ठिर उवाच ।

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विन्दते महत् ।
धृत्या द्वितीयवान्भवति बुद्धिमान्वृद्धसेवया ॥ ४८ ॥

करता है १ । उसके चारोंतरफ शमदम आदि रहते हैं अर्थात् विना शम दम आदिके वेदवेत्ता भी नहीं जानसकता २ । इसको अस्त करनेवाला धर्म है अर्थात् इस आत्माको हृदयाकाशमें धर्म ही प्राप्त करसकता है ३। और यह सत्यमें स्थित है अर्थात् सबका अत्रिभूत जो ब्रह्म हैं उसीमें यह आत्मा प्रकाशता है ॥ ४ ॥ ४६ ॥ फिर यक्ष कहने लगे । य० प्र०-ब्राह्मण श्रोत्रिय किस करके होता है ? १ । और ब्रह्मको किस करके प्राप्त होता है ? २ । और दूसरेवाला किस करके होता है ? ३ । और हे राजन्! बुद्धिमान् किस करके होता है ? ४ ॥ ऐसे सुन राजा युधिष्ठिर कहने लगे । यु० उ०—वेदके पढ़नेसे ब्राह्मण श्रोत्रिय होता है १ । और तपके करनेसे परब्रह्मको प्राप्त होता है २ । और धृति करके दूसरेवाला होता है ३ । और वृद्धसेवा

यक्ष उवाच ।

किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥ ५० ॥

यक्ष उवाच ।

किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ५१ ॥

करके बुद्धिमान् होता है ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र० ब्राह्मणोके देवत्व क्या है ? १ । और सत्पुरुषोंका धर्म क्या है ? २।और इन्होंके मानुषभाव क्या है३।तथा असद्भाव क्याहे ४।४९ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०-वेदोंका पढना ब्राह्मणोंका देवत्व है१। और तप ही इनका सद्धर्म है २ । और मरण ही इनका मानुषभाव है ३ । और दूषण निकालना ही इनके असद्भाव है ४ ॥ ५०॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०-क्षत्रियोंके देवत्व क्या है । १ । और

युधिष्ठिर उवाच ।

इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव ॥ ५२ ॥

यक्ष उवाच ।

किमेकं यज्ञियं साम किमेकं याज्ञियं यजुः ।
का चैषां वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः ।
ऋगेका वृणुते यज्ञं तां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ५४ ॥

इनका श्रेष्ठ धर्म क्या है ? २ । और इनके मनुष्यभाव क्या है ! ३ । और इनका असत् आचरण क्या है ? ४ ॥ ५१ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०—बाणविद्या ही क्षत्रियोंका परम दैवत है १ । और यज्ञकरना ही इनका श्रेष्ठ आचरण है २ । भय ही मानुषभाव है ३ । और शरणागतोंका त्यागना ही इनका असत्कर्म है ४॥५२॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०—यज्ञसबंधी सामवेद क्या है ? १ । और यज्ञसबंधी यजुर्वेद क्या है ? २ । वेदोंमें यज्ञको कौन अंगीकार करता है ? ३। और किसको यज्ञ उलंघन करके नहीं वर्तते हैं?४।५३॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे।यु० उ०–एक प्राण ही यज्ञसम्बन्धी साम

यक्ष उवाच ।

किंस्विदावपतां श्रेष्ठं किंस्विन्निर्वपतां वरम् ।
किंस्वित्प्रतिष्ठमानानां किंस्वित्प्रसवतां वरम् ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निर्वपतां वरम् ।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः ॥ ५६ ॥

है १ । और मन ही यज्ञसंबंधी यजु है २ । एक ऋक् ही यज्ञको अंगीकार करता है ३। और यज्ञ ही उसको उल्लंघन करके नहीं वर्तते हैं ॥ ४ ॥ ५४ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०-देवताओंको तृप्त करनेवालोंको उत्तमफल क्या है ? १ । और पितरोंको तृप्त करनेवालोंको उत्तम फल क्या है ? २ । प्रतिष्ठा चाहनेवालोंको श्रेष्ठ क्या है ? ३ । और संततिवालोंको श्रेष्ठ क्या है ? ४॥५५॥ युधिष्ठिर कहने लगे । यु० उ०-देवताओंको तृप्त करनेवालोंको उत्तम फल वृष्टि है १। और पितरोंको तृप्त करनेवालोंको बीज अर्थात् क्षेत्र आराम आयु संतति आदि उत्तम फल हैं २ । यहां प्रतिष्ठा चाहनेवालोंको गौ श्रेष्ठ फल हैं ३ । और संतति चाहनेवालोंको पुत्र उत्तम फल है ४ । ॥ ५६ ॥ फिर यक्ष कहने लगे । य० प्र०-विषयोंको अनुभव करता

यक्ष उवाच ।

इन्द्रियार्थाननुभवन्बुद्धिमाँल्लोकपूजितः ।
संमतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन्को न जीवति ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ५८ ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्विद्गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात् ।
किं स्विच्छीघ्रतरं वायोः किं स्विद्बहुतरं तृणात् ॥ ५९ ॥

हुवा बुद्धिमान् कौन है ? १ । लोकपूजित कौन है ? २ । सम्पूर्ण प्राणियोंको संमत (प्रिय) कौन है ? ३ । और श्वास लेताहुआ भी मृतक कौन है ? ४ ॥ ५७ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०-देवता अतिथि और भृत्य (नौकर) इनको संतुष्ट करके जो विषयोंको भोगता है वह बुद्धिमान् है १ । जो पित्रीश्वरोंको तृप्त करता है वही लोकपूजित है २ । जो संपूर्ण प्राणियोंको आत्मतुल्य देखता है वही सबका प्रिय है ३ । और जो मनुष्य, देवता, अतिथि, भृत्य, पित्रीश्वर और आत्मा इन पांचोंको तृप्त नहीं करता है वही श्वास लेता हुवा भी मृतक है ४ ॥ ५८ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० उ० -पृथ्वीसे बडा कौनहै ? १ ।

युधिष्ठिर उवाच ।

माता गुरुतरा भूमेः खात्पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात् ॥ ६० ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्वित्सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ।
कस्यास्विद्धृदयं नास्ति किंस्विद्वेगेन वर्धते ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ ६२ ॥

और आकाशसे ऊंचा कौन है ? २ । और वायुसे शीघ्र वेगवाला कौन है ? ३ । और तृणसे अतितुच्छ क्या है ? ४ ॥ ५९ ॥ युधिष्ठिर कहने लगे । यु० उ०—माता पृथ्वीसे बडीहै १। और पिता आकाशसे ऊंचा है २ । मन वायुसे शीघ्रवेगवाला ह ३ । और चिंता तृणसे भी तुच्छ है४॥ ६०॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०—सोया हुआ कौन नहीं जागताहै ? १ । और जन्मा हुवा कौन नहीं चलता है ?२। हृदय किससे नहीं है ? ३ । और वेगसे कौन बढता है ? ४॥६१॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०—सोया हुवा मत्स्य नहीं जागता अर्थात् अपने

यक्ष उवाच।

किंस्वित्प्रवसतो मित्रं किंस्विन्मित्रं गृहे सतः।
आतुरस्य च किं मित्रं किंस्विन्मित्रं मरिष्यतः॥६३॥

युधिष्ठिर उवाच।

सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः।
आतुरस्य भिषङ्मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः॥ ६४॥

स्थानको प्राप्त होकर अन्यत्र गमन नहीं करता। अथवा मत्स्य-सदृश यह जीव ब्रह्मको प्राप्त होकर ज्ञाननिद्रामें सोयाहुवा फिर नहीं जागता १। जन्माहुवा अंड चलता नहीं अथवा यह ब्रह्मांड चलता नहीं २। और हृदय पत्थरके नहीं होता अथवा शोक मोह आदिका स्थान हृदय योगीके नहीं होता ३। और वेगसे बढती है ऐसी नदी है अथवा सुषुप्तिअवस्थाको प्राप्त ऐसे योगीकी चित्तरूप नदी है॥ ६२॥ फिर यक्ष कहनेलगे। य० प्र०—प्रवासीका मित्र कौन है १। और गृहस्थका मित्र कौन है? २। रोगीका मित्र कौन है? ३। और मरनेवालेका मित्र कौन है? ४॥ ६३॥ युधिष्ठिर कहनेलगे। यु० उ०—संग, प्रवासवालेका मित्र है १। और स्त्री, गृहस्थका मित्र है २। औषध, रोगीका मित्र ३। और दान

यक्ष उवाच ।

कोऽतिथिः सर्वभूतानां किंस्विद्धर्मं सनातनम् ।
अमृतं किंस्विद्राजेन्द्र किंस्वित्सर्वमिदं जगत् ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम् ।
सनातनोऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत् ॥ ६६ ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः ।
किंस्विद्धिमस्य भेषज्यं किंस्विदावपनं महत् ॥ ६७ ॥

मरनेवालेका मित्र है ४ ॥ ६४ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०— संपूर्ण प्राणियोंका अतिथि कौन है? १ । और सनातन धर्म कौन है? २ । अमृत क्या है? ३ । और हे राजेन्द्र ! संपूर्ण जगत्में व्याप्त कौन है? ४ ॥ ६५ ॥ युधिष्ठिर कहने लगे । यु० उ०—संपूर्ण प्राणियोंका अतिथि (पूज्य) अग्नि है १ । और गौवोंका दुग्ध अमृत है २ । और गौवोंकी रक्षा यही सनातन धर्म है ३ । और संपूर्ण जगत्में व्याप्त वायु है ४ ॥ ६६ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०— अकेला कौन विचरता है? १ । और जन्म पाकर फिर कौन जन्म-

युधिष्ठिर उवाच ।

सूर्य एको विचरते चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥ ६८ ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्विदेकपदं धर्म्यं किंस्विदेकपदं यशः ।
किंस्विदेकपदं स्वर्ग्यं किंस्विदेकपदं सुखम् ॥ ६९ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः ।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥ ७० ॥

ताहै ? २ । और ठंढीकी औषध क्या है ? ३ । और बडा क्षेत्र कौन है ? ४ ॥ ६७ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०- सूर्य अकेला विचरता है १ । चन्द्रमा जन्म पाकर फिर जन्मता है अर्थात् घटता बढता है २ । अग्नि ठंढीकी औषध है ३ । और पृथ्वी सबके बोनेका बडा क्षेत्र है ४ ॥ ६८ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०--धर्मका मुख्य स्थान कौन है ? १ । और यशका मुख्य स्थान कौन है ? २ । स्वर्गका मुख्य स्थान कौन है ? ३ । और सुखका मुख्य स्थान कौन है ? ४ ॥ ६९ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०-- धर्मका मुख्य

यक्ष उवाच ।

किंस्विदात्मा मनुष्यस्य किंस्विद्दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं किंस्विदस्य किंस्विदस्य परायणम् ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥ ७२ ॥

यक्ष उवाच ।

धन्यानामुत्तमं किंस्विद्धनानां स्यात्किमुत्तमम् ।
लाभानामुत्तमं किं स्यात्सुखानां स्यात्किमुत्तमम् ७३॥

स्थान दाक्ष्य अर्थात् चातुर्य है १।और यशका मुख्य स्थान दान है२। स्वर्गका मुख्य स्थान सत्य है ३। और सुखका मुख्य स्थान शील है ४ ॥ ७० ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०--मनुष्यका आत्मा कौन है ? १ । और दैवका कियाहुवा मनुष्यका मित्र कौन है ? २ । मनुष्यका उपजीवन कौन है ? ३ । और मनुष्यका पालन करनेवाला कौन है ? ४ ॥ ७१ ॥ राजा युधिष्ठिर कहने लगे। यु० उ०-- मनुष्यका आत्मा पुत्र है १ । और दैवका कियाहुवा मित्र स्त्री है २। मनुष्यका उपजीवन मेघ है ३ । और मनुष्यका पालन करनेवाला दान है ४ ॥७२॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०--धन्योंमें उत्तम

युधिष्ठिर उवाच ।

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् ।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥ ७४ ॥

यक्ष उवाच ।

कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः ।
किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च सन्धिर्न जीर्यते ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ।
मनो यम्य न शोचन्ति सन्धिः सद्भिर्न जीर्यते ॥ ७६ ॥

धन्य कौन है ? १ । और धनोंमें उत्तम धन कौन है ? २ । लाभोंमें उत्तम लाभ कौन है ? ३ । और सुखोंमें उत्तम सुख कौन है ? ४ ॥ ७३ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०--धन्योंमें उत्तम धन्य वह है जिसके परोपकाररूप चातुर्य है १ । धनोंमें उत्तम धन विद्या है २ । लाभोंमें उतम लाभ आरोग्य है ३ । सुखोंमें उत्तम सुख संतोष है ४ ॥ ७४॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०--लोकमें श्रेष्ठ धर्म कौन है ? १ । और सदाफल धर्म कौन है ? २ । किसको वश करके मनुष्य शोच नहीं करता है ? ३ । और किनके साथ करीहुई मैत्री छूटती नहीं है ? ४ ॥ ७५ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०--

यक्ष उवाच ।

किं नु हित्वा न प्रियो भवति किं नु हित्वा न शोचति ।
किं नु हित्वार्थवान् भवति किं नु हित्वा सुखी भवेत् ७७

युधिष्ठिर उवाच ।

मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वार्थवान्भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ७८ ।

यक्ष उवाच ।

अभयदान अर्थात् संन्यास लोकोंमें श्रेष्ठ धर्म है १ । और सदा फल देनेवाला धर्म यज्ञ है २ । मनको वश करके मनुष्य शोचते नहीं है ३ । सज्जनोंकी मैत्री छूटती नहीं है ४ ॥ ७६ ॥ फिर यक्ष कहने-लगे । य० प्र०--किसके छोडनेसे मनुष्य प्रिय होता है ? १ । और किसके छोडनेसे मनुष्य शोच नहीं करता है ? २ । किसके छोडनेसे मनुष्य अर्थ (धन) वान् होता है ? ३ । और किसके छोडनेसे मनुष्य सुखी होता है ? ४ ॥ ७७ ॥ यु० उ०—मानको छोडकर मनुष्य प्रिय होता है १ । और क्रोधको छोडकर मनुष्य शोच नहीं करता है?२। काम (इच्छा) को छोडकर मनुष्य अर्थवान् होता है ३ । और लोभको छोडकर मनुष्य सुखी होता है ॥ ७८ ॥ फिर यक्ष कहने-

किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके ।
किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोर्थं नटनर्तके ।
भृत्येषु भरणार्थं वैभवार्थं चैव राजसु ॥ ८० ॥

यक्ष उवाच ।

केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ८१ ॥

लगा । य० प्र०--ब्राह्मणके लिये दान क्यों दियाजाता है ? १ । और नट नर्तकके लिये क्यों दियाजाता है ? २ । नौकरोंको किस लिये दियाजाता है ? ३ । और राजाओंको किसलिये दियाजाता है ? ४ ॥ ७९ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०--ब्राह्मणोंको धर्मके लिये दान दियाजाता है १ । और नट नर्तकोंको यशके लिये दान दियाजाता है ? २ । नौकरोंको पोषणके लिये दान दियाजाता है ३ । और राजाओंको अपने प्रतापके उदयके लिये दान दियाजाताहै ४ ॥ ८० ॥ फिर यक्ष कहने लगे । य० प्र०—मनुष्य किससे आच्छादित रहता है ? १ । और मनुष्य किससे प्रकाश नहीं कर-

युधिष्ठिर उवाच ।

अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते ।
लोभात्त्यजति मित्राणि सङ्गात्स्वर्गं न गच्छति ॥ ८२ ॥

यक्ष उवाच ।

मृतः कथं स्यात्पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ।
श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात्कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥ ८३ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥ ८४ ॥

ताहै ? २ । मित्रोंको किस कारणसे त्याग देता है ? ३ ।और स्वर्गको किस कारणसे नहीं जासकता है ? ४ ॥ ८१ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे यु० उ०— मनुष्य अज्ञानसे आच्छादित (ढकाहुवा) रहता है १ । और तमोगुणसे प्रकाश नहीं करता है २ । मनुष्य लोभसे मित्रोंको त्याग देता है ३ । और कुसंगसे मनुष्य स्वर्गको नहीं जासकता है ४ ॥ ८२ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०—मृतकके समान पुरुष कौन होता है ? १ । और मृतकके समान देश कौन होता है ? २ । मृतक अर्थात् नहीं कियासा श्राद्ध कौन होता है ? ३ । और मृतक अर्थात् नहीं कियासा यज्ञ कौन होता है ? ४ ॥ ८३ ॥ राजा युधि-

यक्ष उवाच ।

का दिक्किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं च वै विषम् ।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

सन्तो दिग्जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् ।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ॥ ८६ ॥

ष्ठिर कहनेलगे । यु० उ० – दरिद्र पुरुष मृतकके समान होताहै । और राजाके विना देश मृतकके समान होता है २ । वेदपाठी ब्राह्मणके विना श्राद्ध मृतकके समान होता है ! ३ । और दक्षिणाके विना यज्ञ मृतकके समान होता है ४ ॥ ८४ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे। य० प्र०–दिशाओंमें उत्तम दिशा कौन है ? १ । और जलोंमें उत्तम जल कौन है २ । अन्नोंमें उत्तम अन्न कौन है ? ३ । और विषोंमें उग्र विष कौन है ? ४ । और श्राद्धका उत्तम काल कौन है ? ५ । हे राजन् ! इन मेरे प्रश्नोंका उत्तर करके जलपान करो और ले भी जाओ ॥ ८५ युधिष्ठिर कहने लगे यु० उ०–संतजन उत्तम दिक् अर्थात् शुभमार्ग बतानेवाले हैं १ । उत्तम जल मेघका है २ । सम्पूर्णोंका अन्न जीवनरूप गौ है ३ । याचना उग्र विष है ४ । श्राद्धका

यक्ष उवाच ।

तपः किंलक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः ।
क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता ८७ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः ।
क्षमा द्वंद्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ॥ ८८ ॥

यक्ष उवाच ।

किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्तितः ।
दया च का परा प्रोक्ता किं चार्जवमुदाहृतम् ॥ ८९ ॥

काल वह है कि जब उत्तम ब्राह्मण मिले ९ । हे यक्ष ! मैं तो ऐसा मानता हूँ और आप कैसा मानते हो वह कहो ॥ ८६ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०—तप कौन कहाता है ? १ । और दम कौन कहाता है । २ क्षमा कौन कहाती है ? ३ । और लज्जा कौन कहाती है ? ४ ॥ ८७ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०—अपने धर्ममें वर्त्तना ही तप है १ । और मनका विषयोंसे रोकना ही दम है २ । शीत उष्ण आदि द्वंद्वोंका सहना ही क्षमा है ३ । और नहीं करने योग्य कार्यका न करना ही लज्जा है ४ ॥ ८८ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे

युधिष्ठिर उवाच ।

ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥ ९० ॥

यक्ष उवाच ।

कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनन्तकः ।
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ॥ ९१ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः ।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥ ९२ ॥

य० प्र०—हे राजन् ! ज्ञान कौन कहा है? १ । और शम कौन कहाहै? २ । उत्तम दया कौन कही है ! ३ । और आर्जव (कोमलता) कौन कही है ! ४ ॥८९॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०—ज्ञानोंमें उत्तम ज्ञान तत्त्वज्ञान है १ । और चित्तकी शांति ही शम है २ । सम्पूर्णोंके सुखकी इच्छा करना दया है ३ । और समचित्तता अर्थात् समदर्शीपना ही आर्जव कोमलता है ॥ ९० ॥ फिर यक्ष कहनेलगे य० प्र०—पुरुषोंका बडा शत्रु कौन है ! १ । और बडी व्याधि कौन है २ । साधु कौन कहा है ! ३ । और असाधु कौन कहाहै!४ ॥ ९१ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०—पुरुषोंका क्रोध ही बडा

यक्ष उवाच ।

को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्रकीर्तितः ।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः ॥ ९३ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता ।
धर्मनिष्क्रियतालस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते ॥ ९४ ॥

यक्ष उवाच ।

किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम् ।
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते ॥९५॥

शत्रु है १ । और लोभ ही बडी व्याधि है २ । जो संपूर्ण प्राणियोंको हितकारी है वही साधु है ३ । जो दयारहित है वही असाधु है ४ ॥९२॥यक्ष कहनेलगे । य० प्र०--हे राजन् ! मोह कौन कहा है १। और मान कौन कहा है ? २ । आलस्य कौन कहा है ? ३ ।और शोक कौन कहा है ? ४ ॥ ९३ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु०उ०--धर्मको नहीं जानना ही मोह है १ । और अपनेको सबसे श्रेष्ठ जानना ही मान है २ । धर्मका आचरण नहीं करना ही आलस्य है ३ । और अज्ञान ही शोक है ४ ॥ ९४ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०--ऋषियोंकी कहीहुई स्थिरता कौन है ? १ । और उनकी कहीहुई

युधिष्ठिर उवाच ।

स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः ।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥ १६ ॥

यक्ष उवाच ।

कः पण्डितःपुमाञ्ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते ।
को मूर्खः कश्चकामः स्यात्को मत्सर इति स्मृतः १७॥

युधिष्ठिर उवाच ।

धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥ १८ ॥

धीरता कौनसी है ? २ । स्नानोंमें उत्तम स्नान कौन कहा है ? ३ । और दानोंमें उत्तम दान कौन कहा है ? ४ ॥ १५ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०—अपने धर्ममें स्थिरताही स्थिरता है १ । इंद्रियोंका रोकना ही धीरता है ३ । मनके मलोंका त्याग करना ही उत्तम स्नान है ३ । और प्राणियोंकी रक्षा करना ही उत्तम दान है ४ । ॥ १६ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०—पंडित पुरुष कौन जानना ? १ । नास्तिक कौन जानना ? २ । और मूर्ख कौन जानना ३ । काम कौन कहा है और मत्सर कौन कहाहै ! ४॥१७॥ युधिष्ठिर

यक्ष उवाच ।

कोऽहङ्कार इति प्रोक्तः कश्च दंभःप्रकीर्तितः ।
किं तद्दैवं परं प्रोक्तं किं तत्पैशुन्यमुच्यते ॥ ९९ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

महाज्ञानमहाङ्कारो दंभो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः ।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ॥ १०० ॥

यक्ष उवाच ।

धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः ।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र सङ्गम ॥ १०१ ॥

कहनेलगे । धर्मका जाननेवाला ही पंडित कहा है १ । और मूर्ख ही नास्तिक कहा है २। संसारकी वासना न मिटना ही काम है ३ । और अन्यकी संपत्को देखकर हृदयमें ताप होना ही मत्सर है४॥९८ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०- अहंकार कौन कहा है ? १ । और दम्भ कौन कहा है ? २ । भाग्य कौन कहा है ? ३ । और पिशुनता (चुगली) कौन कही है ? ४ ॥ ९९ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे यु० उ० महाअज्ञान ही अहंकार है १ । और संसारमें पुजानेके लिये ही धर्म करना दंभ है. पूर्वजन्ममें कियेहुए दानका फल ही दैव है । और दूसरोंके दूषणोंका कहना ही चुगली है ४ ॥ १०० ॥ फिर यक्ष कहने लगे य० प्र०- हे राजन् ! धर्म अर्थ और काम

युधिष्ठिर उवाच ।

यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि सङ्गमः ॥ १०२ ॥

यक्ष उवाच ।

अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ॥ १०३ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिंचनम् ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ १०४ ॥

ये परस्पर विरोधी हैं, इन नित्यविरोधियोंका एक जगह संगम कैसे होसकता है ? ॥ १०१ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०–जब कि धर्म और स्त्री आपसमें वशमें होजाते हैं तब धर्म, अर्थ, और काम इन तीनोंका ही संगम होजाता है ॥ १०२ ॥ फिर यक्ष कहने लगे हे भरतर्षभ ! हे युधिष्ठिर ! कौनसे कर्मके करनेसे मनुष्यका अक्षय नरकवास होता है ? पूछतेहुएके मेरे इस प्रश्नको शीघ्र कहो ॥ १०३ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । कि हे यक्ष ! याचना,

वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ १०५ ॥
विद्यमाने धने लोभाद्दानभोगविवर्जितः ।
पश्चान्नास्तीतियोब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ १०६ ॥

यक्ष उवाच ।

राजन्कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम् ॥ १०७ ॥

करतेहुए अकिंचन ब्राह्मणको स्वयं ही प्रथम देनेको बुलावे और पश्चात् नटजाय वह अक्षय नरकमें प्राप्त होता है ॥ १०४ ॥ और वेद धर्मशास्त्र, ब्राह्मण देवता और पितृधर्म इनमें जो मिथ्याबुद्धि करता है वह अक्षय नरकमें प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥ धन रहनेपर भी जो मनुष्य न तो दान देता है और न आप भोगता है और 'दान दूंगा' ऐसा कहकर पीछे नटजाता है वह अक्षय नरकमें प्राप्त होता है ॥ १०६ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । हे राजन् ! ब्राह्मणत्व, कुलसे होता है ? अथवा आचरणसे होता है ? तथा वेद पढनेसे होता है ? अथवा श्रुतसे होता है ? किससे ब्राह्मणत्व होता है ? यह मेरे प्रति

युधिष्ठिर उवाच।

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥ १०८ ॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ १०९ ॥
पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान्स पण्डितः ११० ॥
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ १११ ॥

निश्चित कहो ॥ १०७ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे। हे यक्ष ! हे तात ! सुनो ब्राह्मणत्वमें न कुल कारण है और न वेदपाठ और न श्रुत कारण है किन्तु ब्राह्मणत्वमें एक स्वधर्माचरण ही कारण है इसमें सन्देह नहीं ॥ १०८ ॥ पुरुषने स्वधर्माचरणकी रक्षा करनी और ब्राह्मणने विशेष करके ही करनी क्योंकि जिसका वृत्त क्षीण नहीं है वह क्षीण नहीं है और जिसका वृत्त क्षीण है वह क्षीण ही है ॥ १०९ ॥ हे यक्ष ! जो ब्राह्मण पढानेवाले हैं. जो पढनेवाले हैं और जो शास्त्रके चिंतक हैं वे क्रियारहित होनेसे सम्पूर्ण व्यसनी और मूर्ख हैं और जो क्रियावान् है वह पंण्डित है ॥ ११० ॥ चारों वेदोंका पढनेवाला भी

यक्ष उवाच ।

प्रियवचनवादी किं लभते
विमृशितकार्यकरः किं लभते ।
बहुमित्रकरः किं लभते
धर्मे रतः किं लभते कथय ॥ ११२ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

प्रियवचनवादी प्रियो भवति
विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति ।

ब्राह्मण यदि दुष्ट आचरणवाला है तो वह शूद्रसे भी अधिक निकृष्ट है क्योंकि जिससे जो अग्निहोत्र करता है और इंद्रियोंका दमन करता है वही ब्राह्मण कहा है ॥ १११ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०--हे राजन् ! यह मेरा प्रश्न कहो कि प्रियवचन बोलनेवालेको क्या प्राप्त होता है ? १ । और विचार करके कार्य करनेवालेको क्या प्राप्त होताहै ? २ । बहुत मित्र करनेवालेको क्या प्राप्त होता है ? ३ । और धर्ममें तत्पर रहनेवालेको क्या प्राप्त होता है ? ४ ॥ ११२ ॥ राजा युधिष्ठिर कहने लगे । यु० उ०--प्रियवचन बोलनेवाला सम्पूर्ण जनोंको

बहुमित्रकरः सुखं वसते
यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥ ११३ ॥

यक्ष उवाच।

को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्थाः का च वार्तिका।
वद मे चतुरःप्रश्नान्मृता जीवन्तु बान्धवाः ॥ ११४॥

युधिष्ठिर उवाच।

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥ ११५ ॥

प्रिय होता है १। और विचारकर काम करनेवालेका अधिक जय होता है २। बहुत मित्र करनेवाला सुखपूर्वक रहता है ४। और धर्ममें तत्पर मनुष्य उत्तम गतिको प्राप्त होता है ४ ॥ ११३ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे। य० प्र०--प्रसन्न कौन रहता है? १। और आश्चर्य क्या है? २ मार्ग कौन है? ३। और वार्ता (वर्तमान) कौन है ४। हे राजन्! जो आप इन मेरे प्रश्नोंका उत्तर करदोगे तो तुम्हारे चारों भ्राता जिय उठेंगे ॥ ११४ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे। हे वारिचर! जो मनुष्य अपने घरमें पांचवें अथवा छठे दिन शाकपात खाता है परन्तु वह ऋणी नहीं है और प्रवासी अर्थात् परदेशवासी

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाःस्थावरमिच्छंति किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ११६ ॥
तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥११७ ॥
अस्मिन्महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।

नहीं है वह प्रसन्न रहता है और नहीं १ ॥ ११५ ॥ दिन दिन प्राणी धर्मराजके स्थानको जाते हैं अर्थात् मरते हैं और बाकी जीते हुए इनको देखकर भी अपनेको स्थिर (अमर) रहनेकी इच्छा करते हैं तो फिर इससे अधिक और आश्चर्य कौन है १ अर्थात् कोई नहीं २ ॥ ११६ ॥ तर्क अप्रतिष्ठ अर्थात् निर्णयशून्य है और श्रुति परस्पर विरुद्ध अर्थवादवाली है और ऋषि भी उनकी व्याख्या करनेवाले परस्पर विरुद्ध हैं और धर्मका तत्त्व गुहा अर्थात् गुप्तभावमें स्थित है इस लिये अपने बडे पुरुष जिस धर्ममार्गसे चले आये हैं वही मार्ग है ३ ॥ ११७ ॥ इस महामोहरूप कडाहको सूर्य और अग्निसे रात्रिदिवसरूप इंधन करके

मास--र्तु--दर्वी--परिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥ ११८ ॥

यक्ष उवाच।

व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परंतप।
पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः ॥ ११९ ॥

युधिष्ठिर उवाच।

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा।
यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते ॥ १२० ॥
तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥ १२१ ॥

काल प्रभु प्राणियोंको इसमें पकाता है और मास ऋतुरूप कड़छीसे हिलाता है यही वार्ता अर्थात् वर्तमान है ४ ॥ ११८ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे। हे परंतप! (हे युधिष्ठिर!) मेरे प्रश्न तुमने यथार्थतासे कहदिये परन्तु अब उस पुरुषको कहो कि जो सर्वधनी कहाता है ॥११९॥ युधिष्ठिर कहनेलगे। पुण्यकर्म करके जिसकी कीर्त्तिका शब्द जबतक आकाश और भूमिमें व्याप्त रहता है तबतक वह पुरुष मानों जीता है और वही सर्वधनी भी कहाता है ॥ १२० ॥ जिसके शत्रु मित्र तुल्य है और सुख दुःख तुल्य हैं और भूत भविष्यत्

यक्ष उवाच ।

व्याख्यातः पुरुषो राजन्यश्च सर्वधनी नरः ।
तस्मात्त्वमेकं भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु ॥ १२२ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः ।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १२३ ॥

यक्ष उवाच ।

प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम् ।

सब जिसके तुल्य हैं वह मनुष्य सर्वधनी कहा है ॥ १२१ ॥ यक्ष कहनेलगे । तुमने सर्वधनी मनुष्य भी यथार्थ कहदिया इसलिये मैं प्रसन्न हुवा कहताहूँ अब तुम जिस एकको चाहो वह तुम्हारा भ्राता जीवित होजावे ॥ १२२ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । हे यक्ष ! जो आप प्रसन्न हुए ऐसा कहते हो तो, जो यह श्यामवर्ण रक्तनेत्रोंवाला बडे शालके वृक्षके समान् ऊंचा बडी छातीवाला और लम्बी भुजाओंवाला मेरा भ्राता नकुल है वह जीवित होजाओ ॥ १२३ ॥ ऐसे सुन यक्ष कहनेलगे । हे राजन् ! यह भीमसेन तुम्हारा प्रिय है और यह अर्जुन तुम संपूर्णोंका रक्षक हैं फिर इन दोनोंको छोडकर कैसे सापत्नभ्राता

स कस्मान्नकुलो राजन्सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ १२४ ॥
यस्य नागसहस्रेण दशसंख्येन वै बलम् ।
तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं जीवमिच्छसि ॥ १२५ ॥
तथैवं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव ।
अथ केनानुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ १२६ ॥
यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः समुपासते ।
अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि ॥ १२७ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

नकुलके ही जीनेकी इच्छा करते हो ॥ १२४ ॥ अहो जिस भीमसेनमें दशहजार हाथियोंका बल है उस भीमसेनको छोडकर नकुलके ही जीनेकी इच्छा कैसे करतेहो ॥१२५॥ और हे राजन् ! जैसेही मनुष्य भीमसेनको तुम्हारा प्यारा भी बताते हैं फिर ऐसे भीमसेनको छोडकर किस कारणसे सापत्नभ्राता नकुलके ही जीनेकी इच्छा करते हो ॥ १२६ ॥ अहो तुम सम्पूर्ण पांडव जिसके बाहुबलको आश्रित होकर स्थित होते हो ऐसे उस अर्जुनको छोडकर हे राजन् ! नकुलके ही जीनेकी कैसे इच्छा करते हो ॥ १२७ ॥ युधिष्ठिर

तस्माद्धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥
आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम् ।
आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १२९ ॥
धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः ।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १३० ॥
कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम ।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ॥ १३१ ॥

कहनेलगे । हे यक्ष ! धर्म ही हत कियाहुवा हनन करता है और धर्म ही रक्षा कियाहुवा रक्षा करता है इसलिये धर्मको मैं नहीं त्यागता हूँ कि जिससे हतहुवा धर्म मेरा हनन न करे ॥ १२८ ॥ हे यक्ष ! परमार्थसे मेरा यह मत है कि समदार्शता वा दया परम धर्म है इसलिये मैं अविषमताकी इच्छा करता हूँ कि नकुलही जीवित होजाओ ॥ १२९ ॥ हे यक्ष ! मनुष्य मुझको " राजा (युधिष्ठिर) धर्मशील हैं " ऐसे सम्पूर्ण कालमें कहते हैं इसलिये अपने धर्मसे मैं चलायमान नहीं होकर यही चाहता हूँ कि नकुल जीवित हो जाओ ॥ १३० ॥ हे यक्ष ! मैंने ऐसा विचार किया है कि मेरे पिताके कुन्ती और माद्री ये जो दो स्त्री है वे नकुलके जीनेसे दोनों समान पुत्रवती होजावें ॥ १३१ ॥

यथा कुन्ती यथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १३२ ॥

यक्ष उवाच।

यस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम्।
तस्मात्ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ ॥ १३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेय-
पर्वणि यक्षप्रश्ने त्रयोदशाधिकात्रिशत-
तमोऽध्यायः ॥ ३१३ ॥ (३)

हे यक्ष ! मुझको जैसी कुन्ती है वैसी ही माद्री है मेरे दोनोंमें भेदभाव नहीं है इसलिये दोनों माताओंको सम रखनेकी इच्छासे मैं यह कहता हूं कि नकुल जीवित होजाओ ॥ १३२ ॥ यक्ष कहनेलगे । हे भरतर्षभ ! (युधिष्ठिर) जिससे अर्थ और कामसे तुम्हारे अवि-षमता परम संमत है इसलिये तुम्हारे संपूर्ण भ्राता जीवित हो जाओ ॥ १३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि यक्षप्रश्ने भाषाटीकायां त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१३ ॥ (३)

वैशंपायन उवाच ।

ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठन्त पाण्डवाः ।
क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

सरस्येकेन पादेन तिष्ठन्तमपराजितम् ।
पृच्छामि को भवान्देवो न मे यक्षो मतो भवान् ॥ २ ॥
वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथवा भवान् ।
अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः ॥ ३ ॥

अब इतनी कथा कहकर फिर वैशंपायन ऋषि राजा जनमेजयसे कहने लगे कि हे जनमेजय ! तिसके अनंतर यक्षके वचनसे वे संपूर्ण पांडव उठकर खडे होगये और क्षणमात्रमें संपूर्णोंकी भूख प्यास दूर होगई ॥ १ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे कि इस सरोवरमें एक पांवसे स्थित होतेहुए आप कौन अजित देव हो मैं आपसे यह पूछता हूँ । क्योंकि जिससे मैंने यह निश्चय किया है कि आप यक्ष नहीं हो ॥ २ ॥ आठ वसुओंमेंसे कोई एक वसु हो अथवा ग्यारह रुद्रोंमेंसे कोई एक रुद्र हो. अथवा उनचास वायुवोंमेंसे कोई एक

मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः ।
तं योधं न प्रपश्यामि येन सर्वे निपातिताः ॥ ४ ॥
सुखं प्रतिप्रबुद्धानामिन्द्रियाण्युपलक्षये ।
स भवान्सुहृदोऽस्माकमथवा नः पिता भवान् ॥ ५ ॥

यक्ष उवाच ।

अहं ते जनकस्तात धर्मो मृदुपराक्रम ।
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ ॥ ६ ॥
यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम् ।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥ ७ ॥

वायु हो अथवा देवताओंके राजा इंद्रदेव हो ॥ ३ ॥ क्योंकि जिससे ये मेरे भ्राता एक एक सैकडों और हजारहोंके साथ युद्ध करनेवाले हैं और ऐसे एक योद्धाको म किसीको नहीं देखता हूँ कि जो इनको युद्धमें गिरादे इसलिये आप कोई उत्तम देव है कि जिससे मेरे सम्पूर्ण भ्राता गिरादिये ॥ ४ ॥ और सुखपूर्वक सोकर उठेहुओंकी तरह जो इनकी इंद्रियोंको मैं देखता हूँ इसलिये यह भी जानता हूँ कि आप हमारे कोई सुहृद हो अथवा पिता (धर्म) ही हो ॥ ५ ॥ऐसे सुन यक्ष कहनेलगे । हे मृदुपराक्रम ! हे भरतवंशियोंमे श्रेष्ठ पुत्र ! (युधिष्ठिर !) मैं तुम्हारा पिता धर्म हूँ और तुम्हें देखनेके लिये आया हूँ ऐसा जानो॥६॥और हे पुत्र ! यश, सत्य, इंद्रियोंका जीतना,

अहिंसा समता शांतिस्तपः शौचममत्सरः ।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥ ८ ॥
दिष्टया पञ्चसु रक्तोऽसि दिष्टया ते षट्पदी जिता ।
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चान्ते सांपरायिके ॥ ९ ॥
धर्मोऽहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहागतः ।
आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ ॥ १० ॥

शौच (शुद्धि), कोमलता,' लज्जा, अचपलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य ये दश मेरे शरीर हैं ॥ ७ ॥ हे राजन् ! जिससे तुम मुझको सदा प्रिय हो इसलिये मैं तुमको धर्मके द्वारा कहता हूँ अहिंसा, समता, शांति, तप, शौच और अमत्सरता अर्थात् इन्हीके द्वारा मुझे धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥ हे राजन् ! आप पांचोंमें शम, दम, जितेंद्रियता, शीतोष्णकी सहनशीलता उपराम, और समाधि-स्थिततामें तत्पर हो यह बहुत अच्छा है। और आदि अवस्थाकी क्षुधा और तृषा मध्य अवस्थाका शोक और मोह अन्त अवस्थाकी वृद्धावस्था और मृत्यु यह षट्पदी आपने जीत ली है यह भी बहुत अच्छा है ॥ ९ ॥ हे अनघ ! (युधिष्ठिर !) तुम्हारा कल्याण हो मैं धर्म हूँ और तुझ धामष्ठकी परीक्षा लेनेको आया हूँ इसलिये तुम्हारी समता और दयालुता करके प्रसन्नहुवा मैं कहता हूँ कि तुझको मैं

वरं वृणीष्व राजेन्द्र दाता ह्यस्मि तवानघ ।
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति ।
तस्याग्नयो न लुप्येरन्प्रथमोऽस्तु वरो मम ॥ १२ ॥

यक्ष उवाच ।

अरणीसहितं ह्यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया ।
मृगवेषेण कौन्तेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो ॥ १३ ॥

वैशंपायन उवाच ।

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
अन्यं वरय भद्रं ते वरं त्वममरोपम ॥ १४ ॥

वर दूँगा ॥ १० ॥ हे राजेन्द्र ! तुम वर मांगो मैं दूँगा हे अनघ ! जो पुरुष मेरे भक्त हैं उनकी दुर्गति कभी नहीं होती है ॥ ११ ॥ ऐसे सुन युधिष्ठिर कहनेलगे । जिस ब्राह्मणका, अरणीसहित अग्निको लेकर मृग चलागया उसका अग्निहोत्र लुप्त न हो प्रथम वर तो मेरा यही है ॥ १२ ॥ यक्ष कहने लगे । हे कौंतेय ! हे प्रभो ! (राजन् युधिष्ठिर !) तुम्हारी परीक्षाके लिये मृगवेष धारण करके इस ब्राह्मणका अरणी सहित अग्नि मैंने ही हराथा ॥ १३ ॥ वैशम्पायनजी

युधिष्ठिर उवाच ।

वर्षाणि द्वादशाऽरण्ये त्रयोदशमुपास्थितम् ।
तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित् ॥ १५ ॥

वैशंपायन उवाच ।

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
भूयश्चाश्वासयामास कौंतेयं सत्यविक्रमम् ॥ १६ ॥
यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम् ।
न वो विज्ञास्यते कश्चित्त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १७ ॥

कहते हैं कि हे जनमेजय! फिर भगवान् धर्मने कहा कि हे देवसदृश ! (राजन् युधिष्ठिर) तुम्हारा कल्याण हो ये वर तो मैंने दिये किन्तु अन्य वर कोई मांगो ॥ १४ ॥ ऐसे सुन राजा युधिष्ठिर कहनेलगे कि भगवन् ! हमको वनमें वसते हुए बारह (१२) वर्ष व्यतीत हो चुके अब अज्ञात वसनेका तेरहवां वर्ष प्राप्त हुवा है इसलिये यह वर दो कि हम चाहैं जहां बसैं मनुष्य हमको जानै नहीं ॥ १५ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि हे राजन् ! जनमेजय ! ऐसे राजा युधिष्ठिरके वचन सुनकर भगवान् धर्म कहनेलगे ' मैं यह भी वर तुम्हैं देता हूँ. ऐसा कहकर फिर सत्यविक्रम कुन्तीके पुत्र राजा युधिष्ठिरको अनेक प्रकारसे आश्वासन करातेभये और कहतेभये ॥ १६ ॥ हे भारत युधिष्ठिर ! यद्यपि तुम अपने इनही रूपोंसे त्रिलोकीमें पृथ्वीपर

वर्षं त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात्कुरूद्वहाः ।
विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ ॥ १८ ॥
यद्वः सङ्कल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम् ।
तादृशं तादृशं सर्वं छन्दतो धारयिष्यथ ॥ १९ ॥
अरणीसहितं चेदं ब्राह्मणाय प्रयच्छत ।
जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा ॥ २० ॥
प्रवृणीष्वापरं सौम्य वरमिष्टं ददामि ते ।
न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन्वै वरांस्तथा ॥ २१ ॥
तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत् ।
त्वं हि मत्प्रभवो राजन् विदुरश्च ममांशजः ॥ २२ ॥

चाहो जहां विचरो तुम्हें कोई नहीं जान सकेगा ॥ १७ ॥ तथाऽपि हे कुरूद्वह ! इस तेरहवें वर्षमें तुम गुप्तहुए विराट्नगरमें वसो मेरे प्रसादसे वहां तुमको कोई नहीं जानसकेगा ॥ १८ ॥ और तुमको जैसा जैसा रूप वांछित हो वैसा वैसा धारण करतेहुए तुम सम्पूर्ण यथेच्छ विचरोगे ॥१९॥ और अरणीसहित यह काष्ठ ब्राह्मणको देदो मैं मृगरूप धारण करके तुम्हारी परीक्षाके लिये लायाथा ॥ २० ॥ हे नरश्रेष्ठ ! तुम्हारेको वर देताहुवा मैं तृप्त नहिं होता हूँ इसलिये हे सौम्य ! तुम वांछित और मांगो ॥ २१ ॥ हे पुत्र ! और तीसरा

युधिष्ठिर उवाच ।

देवदेवो मया दृष्टो भवान्साक्षात्सनातनः ।
यं ददासि वरं तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः ॥ २३ ॥
जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो ।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥ २४ ॥

धर्म उवाच ।

उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव ।
भवान्धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥ २५ ॥

कोई अनुपम और बडा वर मुझसे मांगो क्योंकि जिससे हे राजन् ! तुम मुझसे उत्पन्नहुए हो और विदुर भी मेरे अंशसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २२ ॥ ऐसे सुन राजा युधिष्ठिर कहनेलगे कि, हे भगवन् ! आज मेरे धन्य भाग्य है जो कि देवदेव और सनातन आपके दर्शन हुए इसलिये हे पितः ! आप प्रसन्न हुए जो वरदेंगे वही मैं ग्रहण करूंगा ॥ २३ ॥ तथापि विभो ! मैं तीसरा यही वर मांगता हूँ कि लोभ मोह और क्रोध इनको सम्पूर्ण कालमें जीतूं और दान, तप तथा सत्य इनमें मेरा मन निरंतर बनारहै ॥ २४ ॥ ऐसे सुन धर्म कहनेलगे । हे पांडव ! इन गुणोंसे तो तुम स्वभावसे ही युक्त हो तथापि मैं भी यह वर तुम्हें देता हूँ कि ये गुण तुममें

वैशंपायन उवाच ।

इत्युक्त्वांतर्दधे धर्मो भगवाँल्लोकभावनः ।
समेताः पाण्डवाश्चैव सुखसुप्ता मनस्विनः ॥ २६ ॥
उपेत्य चाश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः ।
आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने ॥ २७ ॥

इदं समुत्थानसमागतं महत्
पितुश्च पुत्रस्य च कीर्तिवर्धनम् ।
पठन्नरः स्याद्विजितेन्द्रियो वशी
सपुत्रपौत्रः शतवर्षभाग्भवेत् ॥ २८ ॥

निरन्तर वास करेंगे ॥ २५ ॥ इतनी कथा कहकर फिर वैशंपायन ऋषि राजा जनमेजयसे कहनेलगे कि, हे राजन् ! लोकप्रतिपालक भगवान् धर्मराजा युधिष्ठिरको ऐसे वर देकर अंतर्धान होगये और मनस्वी शूरवीर सम्पूर्ण पांडव सुखपूर्वक सोतेहुओंके समान उठकर इकट्ठे हो अपने आश्रमको आये और श्रमरहित हुए उस तपस्वी ब्राह्मणको वह अरणी देतेभये ॥ २६ ॥ २७ ॥ यह नकुलआदिकोंको मूर्च्छा होकर उठना और धर्म युधिष्ठिरका प्रश्नोत्तर करनारूप जो आख्यान है सो मनुष्योंके पठन श्रवणसे पितापुत्रोंकी कीर्तिका बढानेवाला है और जो मनुष्य इसका नित्य पाठ करताहै वह जितेन्द्रिय

न चाप्यधर्मे न सुहृद्विभेदने
परस्वहारे परदारमर्शने ।
कदर्यभावे न रमेन्मनः सदा
नृणां सदाख्यानमिदं विजानताम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिजीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१४ ॥ (४)

स्वाधीन और पुत्र पौत्रोंसे युक्तहुवा सौ वर्ष पर्यंत सुखको भोगता है ॥२८॥ जो मनुष्य इस श्रेष्ठ आख्यानका सदा पाठ करते हैं उनका मन दूसरोंका धन हरना दूसरोंकी स्त्रियोसे रमण करना कंजूसपना इनमें कभी रमण नहीं करता है अर्थात् कभी नहीं जाता है ॥२९ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि भाषाटीकायां नकुलादि जीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१४ ॥ (४)

दोहा--यक्ष धर्म प्रश्नोत्तरी, करी सु भाषामाहिं ।
नन्दलाल कहे चूक जो, कहु शोधैं बुध ताहिं ॥

पुस्तक मिलनेका ठिकाना--

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस,
कल्याण-मुंबई.

खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम प्रेस,
खेतवाडी-मुंबई.